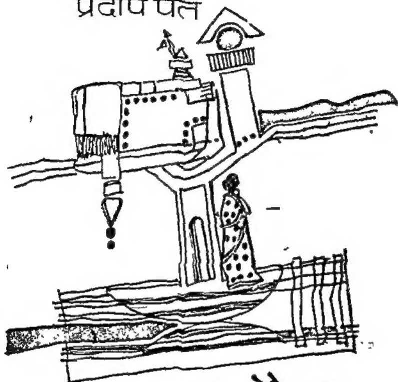




'सामयिक प्रकाशन
३५४३, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२



कुत्ते की मौत

आवारा मसीहा
विष्णु प्रभाकर के लिए

क्रम

कहानियों के बारे में

यह नया कहानी संग्रह आपके हाथों में है। संग्रह की अनेक कहानियाँ ताजी, हाल के वर्षों की लिखी हुई है, तो कुछ काफी पहले की है। इन कुछ कहानियो को मैंने अपने पिछले संग्रह 'आम आदमी का शव' मे नही दिया था, लेकिन अब दे रहा हूँ। आप पूछेंगे कि ऐसा क्यों ?

आज कथा-जगत का जो माहौल है, उसमे एक अजीब किस्म का शोर है। लगता है कि हमारी कविता अमूर्त की गलियो में भटक रही है तो कथा-साहित्य राजनीति के तात्कालिक सरोकारों तक सीमित होता जा रहा है। साहित्य का राजनीति से जुड़ना अच्छी बात है। मैंने 'आम आदमी का शव' जैसी कहानियाँ, 'मै गुटनिरपेक्ष हूँ' और 'प्राइवेट सेक्टर का व्यंग्यकार' की व्यंग्य रचनाएँ और एक पूरा व्यंग्य-उपन्यास 'महामहिम' इसी भावना से प्रेरित होकर लिखा है, बल्कि 'महामहिम' को तो आलोचको और स्वय मैंने राजनीतिक व्यंग्य उपन्यास ही माना है। लेकिन इन रचनाओं को लिखते समय मैंने कोशिश की थी कि मेरी कृतियाँ राजनीति के तात्कालिक सरोकारो से जुडकर न रह जाएँ अथवा उनका विशुद्ध राजनीतीकरण न हो जाए। ऐसा होना साहित्य के लिए खतरनाक स्थिति होती है।

ढाई साल से भी कुछ पहले मैंने 'आठवें दशक की कथा अभिव्यक्ति' पर अपने एक लेख मे कुछ युवा कथाकारो की कहानियों को उद्धृत और विश्लेषित करते हुए कहा था, "आठवाँ दशक हिन्दी कथा-साहित्य के लिए विशेष महत्त्व का है। वस्तुतः वह केवल हिन्दी कथा-साहित्य के लिए ही नही बल्कि सम्पूर्ण भारतीय समाज के लिए विशेष महत्त्व का है। एक लावा जो पिछले कई वर्षो से उबल रहा था, वह मानो आठवें दशक में, खास तौर पर उसके अंतिम चरण मे फूट गया। जितने आदोलन, प्रदर्शन और विरोध

के स्वर इस दशक ने देखे-सुने हैं, उतने पहले देखने-सुनने को नहीं मिले थे। विभिन्न राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय दबावों ने इस दशक में भारतीय समाज-व्यवस्था को बेहद उद्वेलित किया है, उसके अंतर्विरोधों को और अधिक घनीभूत किया है तथा भारतीय सामान्य जन की नियति को अधिक विडंबनामय बनाया है। कहना न होगा कि यह तथ्य न केवल भारतीय समाज-व्यवस्था पर बल्कि सम्पूर्ण विकासशील संसार अथवा 'तीसरी दुनिया' पर कमोबेश सामान्य रूप से लागू होता है। आज की कथा-अभिव्यक्ति अपने में इसी सच्चाई को समेटे हुए है और इसीलिए वर्तमान कथा संसार इस सच्चाई से जुड़े अंतर्विरोधों, शोषण और उत्पीडन का एक जीवन्त दस्तावेज है। ये कहानियाँ भारतीय जन-जीवन से एक जीते-जागते एहसास की तरह जुडी हैं, इनमें विरोध का स्वर बेहद तीव्र है और यदि इनकी एक अलग पहचान बनानी हो तो कहा जा सकता है कि ये आम तौर पर स्वातंत्र्योत्तर भारत की युवा मानसिकता की कहानियाँ हैं।"

कहना न होगा कि आठवें दशक की अनेक कहानियाँ कथ्य, भाषा और शिल्प तीनों ही स्तरों पर अत्यंत जीवन्त हैं। लेकिन इसी लेख में मैंने इस खतरे की भी चर्चा की थी कि 'शोषण की शक्तियों के खिलाफ खड़ी हुई आज के युवा लेखकों की अधिकांश कहानियाँ इतनी ज्यादा आक्रामक हैं, उनमें नारेबाजी और ट्रेड यूनियनिज्म वाला तेवर कुछ इतना अधिक है कि कई बार उनके कहानी होने पर भी शक होने लगता है या कम से कम वे मुकम्मिल तौर पर कहानी नहीं लगतीं। कई बार इन कहानियों के एक के बाद एक लगातार कई-कई वाक्य ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो हम किसी ट्रेड यूनियन नेता की तकरीर सुन रहे हों अथवा किसी राजनीतिक दल के लीडर का भाषण सुन रहे हों। यह सही है कि कहानी अन्याय और शोषण के खिलाफ संघर्ष में भागीदार की भूमिका निभाती है, लेकिन वह यदि किसी ट्रेड यूनियन या राजनीतिक दल के नेता का प्रलाप अथवा एकपक्षीय बयान बन जाए तो उससे न तो राजनीति का उद्देश्य पूरा हो सकता है, और न साहित्य का।'

मुझे लगता है कि आज ऐसी कहानियों की भीड़ लगती चली जा रही है। विचित्र बात यह है कि ये कहानियाँ आभिजात्यपूर्ण शिल्प और भाषा से

लैस करके पेश की जा रही हैं। कहने का आशय है कि इन कहानियों में निर्मल वर्मा का शिल्प और वैसी ही ठंडे मौसम वाली भाषा है और है जन-सामान्य के संघर्ष का उत्तेजनात्मक उबाल। परिणामस्वरूप ये कहानियाँ न तो 'आभिजात्यपूर्ण' रह सकी है और न 'जन' से जुड सकी है। कुछ देर के लिए जरूर ये हमे उत्तेजित करती है, लेकिन अतत: इनका प्रोटेस्ट 'भोथरा' ही अधिक नजर आता है। कहना न होगा कि हर तरह का प्रोटेस्ट सही माने मे न तो विरोध होता है, न विद्रोह, वह एक तरह का नकारवाद होता है। और नकारवादी साहित्य अन्य किसी को नही अततः अपने को ही सबसे अधिक छलता और क्षति पहुँचाता है। इसीलिए आज का बहुत-सा कथा-साहित्य स्वयं अपने को ही छल रहा है, क्षति पहुँचा रहा है। उसे पढते-पढते कभी-कभी लगने लगता है कि हम कही भाषा से सँवारी और शिल्प से निखारी गई जासूसी कहानियाँ तो नही पढ़ रहे है? धुआँ उगलती ऐसी बहुत-सी कहानियों और हिंसा को दर्शाने वाली हमारी हिन्दी फिल्मों मे कोई बहुत बड़ा अतर नजर नहीं आता—वैसे ही नायक की क्रान्ति, वैसे ही फड़कते हुए सवाद और कुल मिलाकर उतनी ही प्रतिबद्धता।

दरअसल ऐसी कहानियों के धुएँ के घटाटोप से आज एक ऐसा माहौल बन गया है कि सहज होकर लिखी जा रही कहानियाँ—जिनमे तिल-तिल कर टूटते लोगों की रोजमर्रा की छोटी-छोटी लडाइयाँ है, जिन्दगी के सुख-दुख है, गहराई तक आहत कर देने वाली टूटती-बिखरती जिन्दगी की बेबाक सच्चाइयाँ हैं, दाम्पत्य, प्रेम और घृणा की अनुभूतियाँ, गरीबी-अमीरी का अतर, लोगों के सोच में धीरे-धीरे आते बदलाव, महानगरीय यातना का अंकन आदि बहुत-सी बातें हैं—हमारी नजरो से अक्सर ओझल हुई जा रही है।

मैने प्रस्तुत सग्रह में ऐसी ही सच्चाइयों को उजागर करती कहानियाँ सम्मिलित की है। कहानियों पर निर्णय करना पाठकों का अधिकार है, लेकिन मेरा आग्रह है कि इन्हें इसी परिप्रेक्ष्य मे देखा-समझा जाए। ये कहानियाँ समाज के विभिन्न वर्गों को लेकर लिखी गई है। विभिन्न स्थितियो और समस्याओं को इनमें समेटा गया है। यथार्थ के विभिन्न आयाम इनमें प्रस्तुत किए गए हैं। एक आयाम वह है जो 'कुत्ते की मौत' मे

है। यह कहानी विपन्नता और सम्पन्नता के अंतर्विरोधों को उजागर करने की कोशिश है। कुत्ते की मौत पर रोने वाले हैं, लेकिन उसी कुत्ते ने जिस गरीब मजदूर लड़की कमला को काटा और जिस कारण उसकी मौत हो गई, उसके लिए रोने वाला कोई नहीं है। मिसेज जोशी के अपने स्वार्थ हैं, मिसेज बत्रा का उच्चवर्गीय मानसिकता वाला अपना चरित्र है। और कमला की बहन लक्ष्मी? वह खुलकर रो भी नहीं सकती। रोने पर रोजी छिन जाने का डर है, वह रोजी जो कमला की मौत के कारण मिली है।

यथार्थ का एक आयाम है—महानगर की दुनिया, निर्मम, अपने ही स्वार्थों में खोई हुई दुनिया। इसी दुनिया की तस्वीरें हैं—'महानगर' और 'एक पड़ाव और' जैसी कहानियाँ जो 'कुत्ते की मौत' से एकदम भिन्न स्तर पर बालमन और नारी-मन की एक अलग ढंग की यातना को अभिव्यक्ति देती हैं। कुछ भिन्न ढंग पर लिखी गई हैं 'बीस-बाईस का जवान' और 'अभिनेता' जैसी कहानियाँ। कैशोर्य से यौवन की देहरी पर बढ़ते युवक की मानसिकता को जहाँ 'बीस-बाईस का जवान' में प्रस्तुत किया गया है, वहीं एक अभिनेता के द्वंद्व को विषय बनाया गया है 'अभिनेता' कहानी में। 'बदलना' एक बिल्कुल भिन्न स्तर पर लिखी गई कहानी है जो इस तथ्य को रेखांकित करती है कि समय के बदलने के साथ सभी को बदलना होता है और जो नहीं बदलते उन्हें समय पीछे छोड़कर आगे निकल जाता है। समय बड़ा निर्मम होता है।

संग्रह में कुछ प्रेम कहानियाँ हैं—सफल प्रेम की कहानियाँ भी और असफल प्रेम की कहानियाँ भी। लेकिन इन्हें केवल प्रेम-कहानियाँ कहना संगत न होगा। दरअसल इनमें से कुछ में नर-नारी सम्बन्धों को व्याख्यायित करने की कोशिश है, जैसे 'अनुत्तरित सच', जिसमें पति-पत्नी बहुत सहज ढंग से एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं और अलग हो जाने के बाद पत्नी वसु सहसा कुछ प्रश्नों से घिर जाती है और वह एक प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ती है तो दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है। हर प्रश्न का उत्तर उसके पास है, लेकिन बार-बार उसे लगता है कि कहीं कुछ है जो अनुत्तरित रह गया है और वह मानो अपने-आप में पूरी होते हुए भी अधूरी ही है।

दरअसल प्रेम-कथाएँ केवल प्रेम में सफलता या असफलता की कहा-

नियां नहीं हुआ करती, उनके पीछे जीवन का कोई यथार्थ होता है। उसी यथार्थ को पकड़ने की मैंने कोशिश की है। उदाहरण के लिए दो कहानियों 'खनकती हुई हँसी' और 'इतने वर्षों तक कहाँ थे' की चर्चा की जा सकती है। पुरुष का दुहरा व्यक्तित्व किस तरह सहज-सरल नारी-मन को आहत कर देता है, इस मूल विचार को उठाती है कहानी 'खनकती हुई हँसी' तो अधिक से अधिक धन जुटाने की लालसा आत्मीयतापूर्ण सम्बन्धों की तलाश के लिए लालायित मन को किस तरह तोड़ देती है, इस तथ्य को उजागर करती है कहानी 'इतने वर्षों तक कहाँ थे'। मंजुला आखिर मिस्टर विश्वास से क्यों अलग हो गई? हर वक्त व्यापारिक कारोबार मे डूबे रहने वाले व्यक्ति की पत्नी की क्या मनोदशा हो सकती है? और वह एक नई जिन्दगी शुरू कर लेने के बावजूद पीछे छूट गए अपने बेटे के लिए कैसी तड़प महसूस करती है?—इन प्रश्नों को पाठकों के सामने लाने की कोशिश ने ही इस कहानी की रचना करवाई है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, आज जबकि कथाजगत का माहौल राजनीति के धुएँ से भर गया है और बहुत-सी कहानियों में जिन्दगी की धड़कनों के बजाय गोलियों की आवाज सुनाई दे रही है, जीवन के यथार्थ का सहज ढंग से विश्लेषण करती मेरी ये कहानियां पाठकों को शायद कुछ ताजगी देंगी।

सी २/३१-ईस्ट आफ कैलाश
नई दिल्ली-११००६५

कुत्ते की मौत

सहसा घंटी बजी। इतनी तेज कि मिसेज जोशी का सिर झनझना उठा।

मिस्टर जोशी आफिस जा चुके थे और वह काम की थकान मिटाने के लिए पलग पर लेटी थी कि तभी···

वह हड़बड़ाकर उठी। तब तक घंटी दूसरी बार बज उठी। लेकिन इस बार उसमे वैसी तेज़ी न थी। या शायद ऐसा उन्हे लगा। लेकिन इतना जरूर है कि घंटी किन्ही अपरिचित हाथो ने बजाई थी। परिचित हाथ जिस अंदाज मे घंटी बजाते है, उसका एहसास है मिसेज जोशी को।

"कौन ?" मिसेज जोशी ने अन्दर से ही कहा और यकबयक दरवाजा नही खोला।

"मैं [illegible]।" उधर से उत्तर मिला। अपरिचित, किन्तु कम उम्र, मासूम-सी आवाज।

"नाम क्या है ?"

"खोलिये तो, तभी तो बताऊँगी।"

मिसेज जोशी ने बाईं हथेली ऊपर ले जा सिटकनी हिलाई और दरवाजा खोल दिया।

सामने जो लड़की खडी थी—काली, लेकिन मुस्कराती हुई, लगभग दस साल की—उसने नाम बताया अपना, "लक्ष्मी [illegible] मैं, कमला की छोटी बहन।"

कमला !

मिसेज जोशी की नौकरानी, जिसका नाम ले-लेकर वह अभी कुछ देर पहले तक कोस रही थी, "आजकल फिर देर से आने लगी है···"

"कौन ?" मिस्टर जोशी ने पूछा था।

"यही कमला, और भला कौन !" खीझते हुए मिसेज़ जोशी ने कहा था।

"आधे बर्तन तो सवेरे के मैं साफ़ कर लेती हूँ, तब आती है मरी।"

'और यह मरी आज खुद नहीं आई, अपनी बहन को भेज दिया,' मन ही मन सोचा मिसेज़ जोशी ने। अब तक उसे सिखाया कि ऐसे बर्तन चमकाओ, धोकर यहाँ रखो, ऐसे झाड़ू लगाओ, ऐसे पोछा मारो, और अब इसे···

गौर से देखा उन्होंने, अपना संक्षिप्त परिचय देने के बाद लक्ष्मी उन्हीं को निहारे जा रही थी। चेहरा बिल्कुल कमला जैसा था लेकिन रंग थोड़ा ज्यादा पक्का। एक बार मन में इच्छा जागी पूछने की कि कहाँ मर गई वह, लेकिन फिर इस सवाल को जज्ब कर पूछ डाला, "तो आज तू काम करेगी ?"

उसने गर्दन हिलाई, जिसका मतलब था—'हाँ !' और फिर धीरे से कहा, "आज से थोड़े दिन तक मैं ही काम करूँगी।"

"थोड़े दिन तक ?" मिसेज़ जोशी ने आश्चर्य से पूछा, "क्यों, उसे क्या हो गया ? जिन्दी तो है वह ?"

"चलने में तकलीफ है कमला को," लक्ष्मी ने अन्दर आ किचन की ओर मुड़ते हुए कहा, "कल शाम कुत्ते ने काट लिया था···"

"कुत्ते ने ?" मिसेज़ जोशी सहसा चौंक उठी।

"हाँ !" लक्ष्मी ने बर्तनों की ओर हाथ बढ़ाते हुए सहज भाव से कहा, मानो बहुत साधारण घटना हो।

"कब ?···कहाँ··· कैसे ?" हड़बड़ी में वह तीनों प्रश्न एक साथ कर गईं, और सिंक के नल की धार और बरतनों की खटपट के बीच लक्ष्मी बड़े शांत भाव से बताने लगी—वह सब जो उसे और माँ को कमला ने बताया था, "कल शाम जब वह आप के यहाँ काम करके सीढ़ियाँ उतर कर जा रही थी तो नीचे वालों के कुत्ते ने काट खाया टाँग में।"

बस, पूरी घटना को लक्ष्मी ने इतने संक्षेप में इतने सहज भाव से बता दिया और फिर बरतनों पर जुट गई।

मिसेज जोशी की आँखों के सामने नीचे के फ्लैट वालों का कुत्ता उभर आया। सफेद, झबरा, खूबसूरत, लेकिन डरावना। भौंकता है तो वह स्वयं डर जाती हैं और सीढ़ियाँ उतरते-उतरते रुक जाती हैं या ऊपर की ओर भाग जाती हैं। नीचे के फ्लैट वाली मिसेज बत्रा उसे बड़े प्यार से रखती हैं अपने बेटे की तरह। रात को सोने के लिए एक अलग खटोला बनवाया हुआ है और उस पर गद्दा और ओढ़ने के लिए रेशमी रजाई। मिसेज बत्रा प्राय: बड़े गर्व से कहती हैं, "इस नस्ल के कुत्ते इंडिया में नही मिलते ! बाहर से इन्होंने अपने एक दोस्त से मँगवाया था···"

सचमुच दूर बहुत दूर से आया था उनका कुत्ता नीलोफर। और यह लक्ष्मी? यह लक्ष्मी भी तो दूर, बहुत दूर से आई है—पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसी धूलि-धूसरित गाँव से कमला और अपनी माँ और पैंतीस-चालीस की उम्र मे ही बुढा गए अपने बाप के साथ ! बाप, जो पिछले दस साल में भी इस दिल्ली शहर में सिर ढकने के लिए ठीक से एक झोंपड़ी का जुगाड़ नही कर सका है। जहाँ जिस ठेकेदार के साथ नई इमारत बनाने के काम में लगता है, वहीं चंद महीनों के लिए झोंपड़ी बन जाती है और फिर इमारत बनती है और झोंपड़ी टूटती है। और इमारत में लोग कारों में लद कर बच्चों, बिल्ली, खरगोश या कुत्तों के साथ आते हैं और ये झोंपड़ी वाले जाते हैं। जाते नही निकाले जाते हैं। लक्ष्मी का बाप भी निकाला जाता है, और फिर जिस नई जगह में जाता है, वहीं आस-पास की कोठियों और फ्लैटों में उसकी बीवी और बच्चे बरतन माँजने और झाड़ू-बुहारी करने में जुट जाते हैं।

लक्ष्मी भी काम में जुट गई थी और मिसेज जोशी पूछ रही थीं, "कमला को कहीं, किसी डाक्टर के पास दिखाया ?"

"नहीं, बस ऐसे ही पट्टी बाँध दी थी, थोड़ा सा ही खून आ रहा था। डाक्टर इत्ते से खून को रोकने के ढेर सारे पैसे ले लेते। इत्ते पैसे कहाँ हैं हमारे पास !" लक्ष्मी ने बड़े भोलेपन से जवाब दिया।

मिसेज जोशी की समझ मे नही आया कि उससे क्या कहें ? कैसे उसे बताएँ कि कुत्ते के काटे का इन्सान कभी-कभी मर भी जाता है, पागल तो अक्सर ही हो जाता है, कि एक-दो नहीं चौदह इंजेक्शन भी लगाने पड़

जाते है। मिसेज जोशी ने कुछ नही कहा और चुपचाप उसके बगल में 'विम' लाकर रख दिया। फिर पूछा, "बरतन ठीक से तो माँजेगी न ?"

"अभी देख लीजियेगा, कैसे चमकाती हूँ," लक्ष्मी ने इठलाते हुए कहा। और सचमुच बरतन चमक उठे—कुछ-कुछ विज्ञापन में छपे चमकते बरतनों जैसे। मिसेज जोशी का कमला के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हृदय सहसा लालची-सा हो गया। उनका मन हुआ, यह लक्ष्मी रोज ही आया करे तो अच्छा हो। बरतन माँज कर, करीने से सजा कर लक्ष्मी ने अपने नन्हे-से हाथों को फ्राक से पोंछा और झाड़ू लेकर फ्लैट के एक-एक कमरे की सफाई करने लगी। मिसेज जोशी को कहने की उतनी जरूरत नही पड़ी, जितना वह कमला से कहती थी। फ्लैट के एक-एक कोने से परिचित अभ्यस्त नौकरानी की तरह लक्ष्मी कमरों को साफ करती जा रही थी और बीच-बीच में फ्राक से अपनी नाक पोंछती जा रही थी। ऐसा करते समय वह इस बात का पूरा ध्यान रखती थी कि मिसेज जोशी की नजर न पड़े।

झाड़ू लगा चुकने के बाद अब उसने फिनैल डाले हुए पानी से पोंछा लगाया और इठलाती हुई जाने लगी। मिसेज जोशी दरवाजा बन्द करने आईं तो लक्ष्मी ठिठक कर खड़ी हो गई और अपनी गोल-गोल आँखों को नचाते हुए बोली, "बीबी जी, कैसा काम करती हूँ मैं ?"

मिसेज जोशी ने उत्तर देने के लिए जुबान खोलनी चाही, लेकिन उत्तर भी लक्ष्मी ने स्वयं ही दे दिया, "करती हूँ न कमला से अच्छा काम ?"

मिसेज जोशी मुस्करा दीं। वह समझ नही पाईं कि यह कमला से उसकी प्रतिद्वंद्विता है या ईर्ष्या ?

उन्होंने सिटकनी बन्द की और कुछ ही देर में डाइनिंग टेबुल पर प्लेट-प्यालों में भोजन खाने रखने में जुट गईं और खाते-खाते सोचने लगीं कि अगले दिन कमरे साफ कराते समय खिड़कियों के 'ग्रिल्स' भी साफ करवा लूँगी। मुँह शायद न बनाए। बनाएगी तो एक चवन्नी दे दूँगी और हाँ, कपड़े भी धुलवाने हैं। पता नही कैसे धोती होगी ? फिर अपने से ही कहा, "बरतन अच्छे धोती है, झाड़ू अच्छा लगाती है, पोंछा अच्छा मारती है, तो कपड़े भी अच्छे ही धोती होगी।'

खाना खा कर जूठे बरतन उन्होंने सिंक में पटके और बचा हुआ खाना

फ्रिज मे ठूंस दिया। पानी की खाली बोतलें आलस में टेबुल पर ही पड़ी रहीं और मिसेज़ जोशी पलंग पर जा पसरीं।

यही उनका नित्य-क्रम है।

इसी नित्य-क्रम को पूरा करने मे आधा दिन बीत गया। रोज की ही तरह दोपहर बाद नीद तब खुली, जब एक बार फिर घंटी बजी—बड़ी तेज और तीखी।

"कौन ?" के उत्तर में बाहर से सुनाई दी वही परिचित मासूम आवाज, "मैं हूँ, बीबी जी !"

लक्ष्मी दूसरी बार के बरतन धोने आई थी। दरवाजा खुलते ही मुस्कराती हुई वह सीधे सिंक की ओर लपक ली। इस बार मिसेज़ जोशी ने कुछ नही पूछा उससे। कमला के बारे मे तो कुछ भी नहीं। पूछने की जरूरत भी नही थी। वह अपनी झुग्गी से नहीं आ रही थी, बल्कि आ रही थी बाकी घरों को निबटा कर—कुछ का दोनो वक्त का काम पूरा कर के और कुछ का सिर्फ एक वक्त का।

बरतन साफ होने और सिंक का नल चलने तक मिसेज़ जोशी नीद टूटने के बाद की थकान मिटाने के लिए पलग पर फिर जा कर पड़ गई और लक्ष्मी जब काम पूरा करके जाने लगी तो उन्होंने मुस्कराते हुए चद बासी रोटियाँ उसे पकड़ा दी, एक टुकड़ा आम के अचार के साथ। लक्ष्मी के होठों पर मुस्कान फैल गई। उसे लगा कि यह उसकी उपलब्धि है जो पहले ही दिन बीबी जी उससे खुश हो गई। अब तो सचमुच कमल का पत्ता साफ !

सचमुच कमल का पत्ता साफ क्योंकि अगले दिन मिसेज जोशी ने लक्ष्मी से 'ग्रिल्स' साफ करने को कहा तो वह सहर्ष राजी हो गई। चेहरे पर कोई शिकन नही, कोई बहाना नही कि शाम को कर दूंगी या कुछ आज कर दूंगी और कुछ कल। लक्ष्मी की इस सहर्ष सहमति से मिसेज़ जोशी के मन मे कमला के प्रति सम्वेदना जाने कहाँ गायब हो गई। उन्होंने कमला के बारे मे लक्ष्मी से कुछ भी नही पूछा। लक्ष्मी की मुख-मुद्रा ने कुछ जताया भी नही। बरतन धोने के बाद लक्ष्मी जब 'ग्रिल्स' साफ कर रही थी तो पास ही खड़ी मिसेज को लग रहा था कि आज मिस्टर जोशी अवश्य शाम को

उन्हें घुमाने ले जाएँगे। वह कई दिनों से कह रहे थे कि 'ग्रिल्स' बहुत गंदे हो गए है। मिसेज जोशी हर रोज 'ग्रिल्स' की सफाई को कल पर टाल देती थी। आज आखिर बिना स्वय मेहनत किए यह काम उन्होंने सम्पन्न करा ही लिया। कमला को मिसेज बत्रा का प्यारा झबरा कुत्ता नीलोफर न काटता तो यह काम दिनों तक टलता रहता। मन ही मन मिसेज जोशी ने नीलोफर के प्रति आभार व्यक्त किया और इसके साथ ही वह उनकी बड़ी-बड़ी आँखो के सामने एक बार फिर उभर आया।

नीलोफर। यानी मिसेज बत्रा के परिवार का अति महत्त्वपूर्ण सदस्य। वह छोटा-सा खटोला, जो अभी हाल मे बनवाया है उन्होंने उसके लिए, सचमुच कितना प्यारा है। मिसेज बत्रा की बेडौल-सी लड़की, जिसका नाम उन्होंने 'लवली' रख छोड़ा है और जिसे मिस्टर जोशी अक्सर 'अगली' कहा करते हैं, रोज सवेरे-शाम उसे लेकर पास के पार्क में घूमती है। मिस्टर बत्रा अपनी छोटी-सी फैक्टरी से रात देर से लौट कर भी नीलोफर को प्यार करना, पुचकारना और चूमना नही भूलते।

भूलता लक्ष्मी का बाप भी नहीं है, लेकिन जब वह ठेकेदार की निगरानी मे लगातार चिनाई करते-करते बेतरह थक जाने के बाद घर लौटता है तो उसमे बच्चों क्या, पत्नी तक को चूमने की ताकत नही होती। यह कोई नई बात नही है। हाँ, उन दिनो की बात और थी जब वह जवान था—जवान, यानी बीस-पच्चीस साल का। अब तो वह पैंतीस-चालीस साल का बूढ़ा है। लेकिन इमारतों की चिनाई करते समय उसमें न जाने कहाँ से शक्ति आ जाती है। खुद उसे भी कभी-कभी आश्चर्य होता है। दरअसल यह पेट की मार बड़ी बेरहम होती है।

और पेट की इस मार का अहसास दस साल की कमसिन लक्ष्मी को भी है। दस साल की कमसिन उम्र में ही पेट की मार का अहसास! कैसा अद्‌भुत अहसास है यह! यह पेट की ही मार उससे हँसते-हँसते 'ग्रिल' साफ करवा देती है। यह पेट की ही मार हथेलियो को आगे बढ़ाकर बासी रोटियाँ स्वीकार करने को विवश कर देती है। यह पेट सचमुच अजीब चीज है। एक मिसेज बत्रा के झबरे नीलोफर का पेट है, जिसके लिए मास-मछली की कमी नही, जिसे साधारण इन्सान से भी बेहतर जिन्दगी जीने की सारी

सुख-सुविधाएँ मुहैया हैं और एक लक्ष्मी का पेट है, जिसे नीलोफ़र तो क्या साधारण घर के कुत्ते से भी बदतर जिन्दगी गुजारनी पड़ती है, जिसे खुद अपनी ही बहन से प्रतियोगिता करनी पड़ती है···

और मिसेज जोशी इस प्रतियोगिता से खुश होती है। आज तीसरे दिन भी वह खुश थी। कल लक्ष्मी ने 'ग्रिल' जो चमकाए तो शाम को मिस्टर जोशी का चेहरा भी चमक उठा। वह मिसेज जोशी को न केवल घुमाने ले गए थे, बल्कि उन्होंने 'डिनर' भी होटल में कराया था और होटल में डिनर करते समय मिसेज जोशी ने उन्हें बताया था कि वह जो कमला की बहन आई है, कमला से कहीं ज्यादा होशियार है, कहीं ज्यादा सुघड़ है। नीलोफ़र ने कमला पर जो कृपा की थी, उसका वर्णन वह मिस्टर जोशी के सामने पहले ही दिन कर चुकी थी, लगे हाथों उन्होंने मिस्टर जोशी को अपना यह निर्णय भी सुना दिया, "अब कमला से कहेंगे कि वह कोई और घर पकड़ ले। हमारे यहाँ लक्ष्मी ही ठीक है।"

"ठीक है।" मिस्टर जोशी ने सहमति प्रकट की थी। और वह 'डिनर' लेने में मशगूल हो गए थे।

और चूँकि उस रात घर पर भोजन नहीं बना था, इसलिए···

इसलिए अगले दिन लक्ष्मी के चेहरे पर खुशी झलक उठी थी। मिसेज जोशी उसके चेहरे के इस भाव को ताड़ गई थीं और फिर कुछ रुक कर बोली थी, "लक्ष्मी, देख आज बरतन बहुत कम हैं, तू थोड़े से कपड़े धो देना।"

लक्ष्मी ने सहमति में सिर हिलाया था और फिर धीरे से पूछा था, "अब आप मुझे निकालोगी तो नहीं?"

"नहीं," मिसेज जोशी का संक्षिप्त उत्तर था।

"कभी नहीं? कमला आ जाएगी, तब भी नहीं?"

"नहीं।"

और लक्ष्मी दुगुने उत्साह से बरतन साफ करने में जुट गयी थी। इसके बाद झाड़ू-पोंछा करते समय भी उसके चेहरे पर वह उत्साह बना रहा। कपड़े धोते समय भी वह उत्साह में कोई फिल्मी गीत गाती रही। और जब

उससे इतनी अधिक प्रसन्न हो उठी हैं।

प्रसन्न उस समय भी थी मिसेज़ जोशी, जब वह दोपहर के बरतन साफ करने दुबारा उनके यहाँ आई। जिस समय लक्ष्मी ने 'कॉल बैल' बजाई, मिसेज़ जोशी नीलोफर के ख्यालों में खोई हुई थीं। उनका मन चाह रहा था कि जाकर मिसेज़ बत्रा की तरह वह भी नीलोफर को चूम ले। नीलोफर जब गुर्राता है तो मिसेज़ बत्रा अक्सर उसकी वफादारी की चर्चा करती है। वह अक्सर कहती है, "ये कई बार फैक्टरी के काम से बाहर चले जाते हैं, लेकिन हम लोगों को कोई डर नहीं लगता। नीलोफर हर वक्त कान चौकन्ने किए रहता है। ज़रा-सा खटका हुआ नहीं कि दरवाजे की तरफ दौड़ पड़ता है।"

मिसेज़ जोशी हाँ में हाँ मिलाती है। इस समय उनका मन हो रहा था कि जाकर मिसेज़ बत्रा से कहे, 'आप ठीक बता रही थीं इस नीलू के बारे में। ज़रूर कमला आपके घर में घुस रही होगी। हमारी भी दो-एक चीजें गायब हो चुकी हैं। खैर चलिये, अच्छा हुआ, अब तो यह लक्ष्मी...'

और उसी समय लक्ष्मी ने 'कॉल बेल' बजा दी। मिसेज़ जोशी नीलोफर के खयालों की दुनिया से लौट आई और दरवाजा खुलने पर लक्ष्मी सिंक में बरतनों से जूझने लगी। मिसेज़ जोशी कुछ देर तक रसोई में इस या उस काम के बहाने उसे देखती रही, उसके फुर्ती से चलते हाथों को निहारती रही और फिर ड्राइंग रूम में लम्बे सोफे पर एक तकिये के सहारे लेट कर कोई पत्रिका पढ़ने लगी और तब तक पढ़ती रही जब तक कि वह काम पूरा करके चली नहीं गई।

मिस्टर जोशी आफिस गए ही थे।

मिसेज़ जोशी ने दरवाजा अभी बंद किया ही था।

वह सवेरे की थकान दूर करने के लिए अभी लेटी ही थी कि तभी

कि तभी घंटी बज उठी। वही पहले दिन की तरह तेज। इतनी तेज कि मिसेज जोशी का सिर झनझना उठा।

वह हड़बड़ा कर उठी कि तब तक दूसरी बार घंटी बज उठी। इस बार

और भी तेज। तेज नही तीखी और देर तक।

"कौन है?" मिसेज जोशी ने झल्लाते हुए कहा।

"मैं हूँ···लक्ष्मी।"

और दरवाजा खुलने पर लक्ष्मी सामने खड़ी थी—उसी मैली-सी फ्राक मे, जिसमे मिसेज जोशी ने अक्सर कमला को देखा है। कमला की फ्राक में लक्ष्मी मुस्करा रही थी और मिसेज जोशी कह रही थी, "इतनी जोर से क्यो बजाती है घंटी?"

अब लक्ष्मी क्या बताती कि उसे कभी-कभी 'कॉल बेल' जोर से बजाने मे मजा आता है। लक्ष्मी ने नही बताया। अपने-आप से तो उसने और भी कुछ नही बताया, पर मिसेज जोशी ने ही पूछ लिया, "कमला के पाँव का क्या हाल है अब?"

"अब," लक्ष्मी ने पलकें उठाकर होंठों पर दूनी मुस्कान ला उनकी ओर देखा और फिर बड़ी लापरवाही से कहा, "अब कभी नही आएगी वह।"

सहसा मिसेज जोशी को खटका हुआ, पर लक्ष्मी ने जो कुछ कहा था, सचमुच बडी लापरवाही से कहा था। मिसेज जोशी पूछे बिना नही रह सकी, "क्यो? क्यो नही आएगी वह?"

"मैं काम ठीक नही करती क्या?" उत्तर मे लक्ष्मी ने प्रश्न ही कर डाला।

"करती तो है ठीक। तू ही करेगी यहाँ काम, पर कमला?"

"कमला अब कही काम पर नही जाएगी," सिंक के ठीक ऊपर लगा नल खोलते हुए लक्ष्मी ने कहा।

"लेकिन क्यो?"

"वह चली गई।" लक्ष्मी ने पहला बर्तन धोया।

"कहाँ चली गई?" मिसेज जोशी लगातार प्रश्न पूछती जा रही थी।

"ऊपर।" फिर उसी लापरवाही से कहा लक्ष्मी ने, दूसरा बरतन धोते हुए।

"ऊपर कहाँ?" मिसेज जोशी से रहा नही गया।

"वह मर गई।" सहसा लक्ष्मी ने कहा—बडी मासूमियत से, लेकिन

मिसेज जोशी को लगा, मानो काँच का गिलास लक्ष्मी के हाथों से सहसा गिरकर झन्न की आवाज के साथ टूट-बिखर गया हो। मिसेज जोशी को जैसे विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने लपक कर नल बद कर दिया और पूछा, "क्या ? सच कह रही है ? वह मर गई ?"

"हां, वह मर गई। रात उसके पाँव मे बहुत दर्द हुआ। फिर वह चीखने लगी और फिर मर गई।" उसी मासूमियत से कहते हुए उसने नल फिर खोल दिया। पानी की धारा फिर बहने लगी। लक्ष्मी कहने लगी, "अब सब घरों में मैं ही काम करूँगी कमला की जगह···सब कहते हैं कि मैं उससे ज्यादा बरतन चमकाती हूँ···"

मिसेज जोशी कुछ नही सुन सकी, बस जाकर अपने पलंग पर औंधे मुँह गिर पडी। लक्ष्मी कहे जा रही थी, "अब वह बच भी जाती तो भी उसे कोई न रखता। सब कहते है, मै ज्यादा अच्छा काम करती हूँ।"

औंधी पडी मिसेज जोशी को लग रहा था कि नीलोफर उन्हे भी काटने आ रहा है। उन्होने एक झटके से दोनो टाँगे ऊपर की ओर समेट ली। लेकिन उन्हें लगा, अब वह उनके हाथों की ओर लपक रहा है··· और अब उनका मुँह नोचने को आ रहा है। उन्होने दोनो हथेलियो से कस कर मुँह दबा लिया। अब उनके कानो मे नीलोफर के भौंकने का शोर होने लगा। उन्होंने दोनों हथेलियों को मुंह से हटा कर कानो पर लगा लिया और जैसे ही लगाया, उन्होने देखा सामने कोई नही है। कोई भी नही, सिर्फ किचन से लक्ष्मी के गुनगुनाते हुए बरतन धोने की आवाज आ रही थी।

मिसेज जोशी एक झटके से उठी और चप्पल पाँवों मे डाल दरवाजे से बाहर निकल बडी तेजी से सीढ़ियाँ उतर के मिसेज बत्रा के घर के दरवाजे पर पहुँच गईं। हर वक्त बद रहने वाले मिसेज बत्रा के फ्लैट के दोनो दरवाजे खुले हुए थे। वह सीधे अदर गईं कमला के बारे में उन्हे बताने। लेकिन वह कुछ बताती कि सहसा रुक गईं। ड्राइंग रूम मे एक सोफे पर बैठी हुई मिसेज बत्रा आँसू बहा रही थी, सामने दूसरे सोफे पर उदास चेहरा लिए लवली बैठी थी और चारों ओर एक अजीब मनहूसियत छाई हुई थी। मिसेज जोशी को सामने देख मिसेज बत्रा उठकर उनसे लिपट गईं और फफक-फफक कर रो पड़ी।

"क्या हुआ मिसेज बत्रा ? आप रो क्यों रही हैं ? मिसेज जोशी ने उन्हें सँभालते हुए पूछा।

"नीलोफर नहीं रहा। मेरा प्यारा नीलू···" कहकर उनकी रुलाई और जोरों से फूट पड़ी।

फिर कुछ क्षण बाद जब रुलाई पर उन्होंने कुछ काबू पाया तो बताने लगीं कि कल रात कुछ ज्यादा ही भौंक रहा था। और आज सवेरे एकाएक मर गया। फिर वह मिसेज जोशी को एक-एक कर उसकी चीजें दिखाने लगीं, "यह देखिये, उसकी रेशमी रजाई···इसी सीजन में बनवाई थी। यह गद्दा दो महीने पहले सिलवाया था। यह खटोला अभी हाल में टूट गया था तो कारपेंटर को घर पर बुलवा कर ठीक करवाया था। बेचारा हमें छोड़ कर ऐसे समय में गया, जब मिस्टर बत्रा भी यहाँ नहीं हैं। क्या सोचेंगे वह लौट कर···" कहते-कहते वह फफक-फफककर रोने लगीं।

कमला की मौत की खबर उन्हें बताये बिना ही मिसेज जोशी सीढ़ियाँ चढ़ती हुई ऊपर लौट आईं। ड्राइंग रूम में लक्ष्मी हाथों में झाड़ू लिए कमला के फ्राक से आँखें पोंछ रही थी। मिसेज जोशी को सहसा सामने देख उसने तुरन्त फ्राक नीचे कर लिया, मानो चोरी करते पकड़ी गई हो···और कोई फिल्मी गाना गुनगुनाते हुए पूरे उत्साह से झाड़ू लगाने में जुट गई।

अनुत्तरित सच

"वसु !"

"हाँ।"

"सुनो !"

"क्या ?"

अमित ने क्षण-भर को नजरें ऊपर उठाईं। ठीक सामने वसु खड़ी थी—हैंडलूम की लाल-हरे चौखाने वाली साड़ी और मैरून ब्लाउज पहने। चौड़े माथे पर मैरून रंग की बड़ी-सी बिंदिया और दोनों हाथों की कलाइयों में सुर्ख लाल चूड़ियाँ।

वसु से नजरें मिलाकर निगाहें फिर उसने नीचे कर ली और पूर्ववत अटैची सँभालने में जुट गया।

वसु के होंठों पर इस बीच हल्की-सी जो मुस्कान उभर आई थी, उसे वह देख न सका। बस, केवल सुन सका उसकी चूड़ियों की खनक।

"तुम कुछ कह रहे थे।" मौन वसु ने तोड़ा।

"हाँ, कह तो रहा था।"

"फिर चुप क्यों हो गए ?"

"सोचा कि कहने से फायदा क्या !"

"हर बात में क्या केवल फायदा ही देखा जाता है ?"

"नहीं।"

"फिर ?"

"कही हुई बात व्यर्थ भी तो नहीं चली जानी चाहिए।"

"अर्थ और व्यर्थ, फायदा और नुकसान—इन सबके प्रति इतने संजीदा कब से हो गए तुम?" कहने के साथ ही इतनी जोर से खिलखिला पड़ी

वसु कि अमित का उत्तर उसकी खिलखिलाहट में ही डूब गया।

अटैची सँभालते हाथ सहसा रुक गए।

वसु खिलखिलाए जा रही थी।

उसे अच्छा लगा, वसु को इस तरह खिलखिलाते देखना। मन हुआ कि कहे, बस ऐसे ही खिलखिलाती रहो देर तक, बहुत देर तक, जब तक कि अटैची उठाकर मैं यहाँ से चला न जाऊँ।

खिलखिलाहट पर काबू पा वसु ने फिर कहा, "हाँ, तो तुम कुछ कह रहे थे।"

"जाने दो उस बात को।"

"नहीं, होंठों तक आई बात को टालना नहीं चाहिए। टाली हुई बात हमेशा सालती रहती है।"

"सो तो है।"

"जानते हो, फिर भी बात को जब्त किए जा रहे हो।"

"वह जो तुम अभी खिलखिलाई थी न।" अमित ने कहा, "मैं दरअसल तुमसे यही कहना चाह रहा था कि खिलखिलाती रहो देर तक, बहुत देर तक, जब तक कि······"

"झूठ। एकदम झूठ। मैं खिलखिलाई बाद में थी, तब जब कि तुम बात कहने-न कहने के फायदे-नुकसान पर सोचने लगे थे।"

"सुनो!" जैसे सहसा कुछ याद आया हो अमित को, कुछ इस अंदाज मे कहा उसने, "वो जो हैंगर में नीली कमीज टँगी है न, उसे उठा देना जरा···"

वसु वार्ड्रोब की ओर बढ़ी। हैंगर सहित कमीज उठा लाई। फिर जैसे उसे छाती से लगाती हुई बोली, "कितनी सुंदर है तुम्हारी यह कमीज···"

"हाँ, मुझे भी बेहद पसन्द है।"

"नहीं, मैं शायद गलत कह गई। कमीज उतनी सुन्दर नहीं है, बल्कि तुम जब पहनते हो तब बहुत अच्छी लगती है।"

"हाँ, शायद यही बात ज्यादा सही है। कुछ कपड़े मुझ पर अच्छे लगते हैं।"

"पर यह नीली कमीज तो बहुत अच्छी···"

"तुम रखना चाहती हो ?" अमित ने मानो उसकी आँखों में झांकते हुए कहा, "रखना चाहती हो तो रख लो।"

"नहीं, अब इस कमीज को रखकर क्या होगा !"

वसु की आँखों में मानो उदासी के बादल तैरने लगे। उसने कमीज अमित की ओर बढ़ा दी।

करीने से तह करते हुए अमित ने कमीज को अटैंची में रख लिया। फिर याद आया, अभी तो बहुत-सी चीजें रखनी बाकी हैं—टूथ ब्रश, कंघा, शेविंग क्रीम, दाढ़ी बनाने का सामान, नाइट ड्रेस, पैन, राइटिंग पैड। चीजों की एक लम्बी फेहरिस्त। बूट पालिश, ब्रश, अंडरशर्ट्स, गरम सूट, पैंट, कमीजें···अभी भला सँभला ही क्या है।

"मेरी जितनी भी चीजें हैं, एक-एक करके देती जाओ।" अमित ने वसु की ओर इंगित करते हुए कहा, "क्यों, असुविधा तो न होगी ?"

"सुविधा-असुविधा की बात छोड़ो, तुम चीजें बताते जाओ, बस।"

"अच्छा तो पहले सारे कपड़े दे दो, फिर बाथरूम में चीजें उठा लाना, और फिर वाश-बेसिन के ऊपर से टूथब्रश, फिर बूट पालिश, जूते, चप्पलें···"

"बस-बस, जरा रुको। इतनी सारी चीजें एक साथ मत गिनाओ, मैं भूल जाऊँगी। फिर दोष दोगे कि···"

"नहीं दोष नहीं दूँगा।" कहते हुए अमित पास की कुर्सी पर बैठ गया। कमीज की जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला, सिगरेट ली, लाइटर जलाया और कश लेने लगा।

वसु कभी बाथरूम तो कभी वार्डरोब से, कभी जूतों की अल्मारी तो कभी वाश-बेसिन के ऊपर से चीजें ला-लाकर देती जा रही थी—तेजी से इधर-उधर घूमती हुई। फिर जैसे कुछ ख्याल आया हो, बोली, "सुनो, एक बात···"

"हाँ, बोलो !" अमित ने कहा सिगरेट का लम्बा कश लेते हुए।

"मैं यही सिगरेट के बारे में कह रही थी। ज्यादा सिगरेट मत पिया करना, अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखना। यूँ तो बड़ा पिटा हुआ तर्क है, हैल्थ इज़ वैल्थ, पर है एकदम सही।"

"हाँ, है तो सही, लेकिन···"

"लेकिन क्या ?"

"यही कि उम्र की इस मंजिल पर पहुँच कर न तो हैल्थ का कोई मत-लब रह जाता है···"

"और न वैल्थ का। क्यों यही न ?"

"हाँ, यही।"

"इस पोइण्ट पर फिर कभी बहस करेंगे, पर मेरी सलाह मानो तो सचमुच सिगरेट कम ही पीना···"

"ओके, बाबा, जैसा आपका आदेश हो !" कहते हुए अमित ने बची हुई सिगरेट ऐश-ट्रे के किनारे रगड़ दी।

"फिर भूल जाऊँगी, चाहो तो यह ऐश-ट्रे भी लेते जाओ···"

"जो-जो तुम दोगी, वह सब ले जाऊँगा···"

"जो कुछ भूल जाओगे, उसे भी बाद में ले जा सकते हो।" कहते हुए वसु ने वे सब चीजें अमित को दे दीं, जो उसने गिनाई थीं।

कुल दो अटैचियाँ भर गई थीं।

इतना सामान काफी है काम चलाने को, अमित को महसूस हुआ। सहसा उसकी नजर वार्ड्रोब पर पड़ी—लम्बी रॉड पर कई हैंगर खाली उदास से झूल रहे थे। देर तक वह उन्हें देखता रहा।

"क्या देख रहे हो ?" वसु ने उसके बगल में आ उसी तरफ निगाहें दौड़ाते हुए पूछा।

"ये हैंगर खाली लटके हुए देखो कैसे उदास लग रहे हैं।"

"तुम इतने भावुक क्यों हुए जा रहे हो ?" वसु से रहा न गया।

"सचमुच क्या मैं भावुक होकर कह रहा हूँ ऐसा या···?"

"नहीं।" कुछ रुककर बोली वसु, "तुम ठीक ही कह रहे हो, मुझे भी कुछ ऐसा ही लग रहा है।"

"कैसा ?"

"यही कि खाली लटके हुए हैंगर उदास हैं।"

"दरअसल।" अमित ने कहा, "माफ करना···आगे बात कहने के लिए तुम्हारी अनुमति हो तो एक सिगरेट और पी लूँ मैं···"

"मुझसे क्या पूछते हो !"

"क्यों, विदा होते-होते इतना भी नही पूछ सकता। और तब जब कि तुम हिदायत दे चुकी हो कि हैल्थ का ख्याल रखना।"

यमु मुस्कराई।

अमित भी।

"अच्छा, अगर बात कहने मे सिगरेट से मदद मिलती है तो पी लो…"

"थैंक्स!" अमित ने कहा और फिर सिगरेट सुलगा ली।

सचमुच कुछ सहूलियत-सी महसूस हुई उसे।

"हाँ, तो तुम कह रहे थे कि…"

"यही, खाली लटके हैंगरों की बात कह रहा था मैं। सचमुच उदास लगते हैं न।"

"सो तो लगते ही हैं…"

"लेकिन दरअसल बात केवल इतनी-सी नहीं है, इससे ज्यादा है। और वो यह कि दुनिया में कई चीजें ऐसी होती हैं जो अकेली अच्छी नही लगती। मसलन टेबल लैंप बिना बल्ब के अच्छा नहीं लगता, या ऐश-ट्रे सिगरेट के दो-चार टुकड़ों के बिना अच्छी नही लगती। बहुत-सी चीजें हैं जो अपने में अकेली हों तो अधूरी लगती हैं।"

"मेरे ख्याल से यह बात ज्यादातर चीजों पर लागू होती है और कई बार बड़े अजीबोगरीब ढंग से लागू होती है। मसलन, हैंगर मे पैण्ट लटकी हो तो हैंगर अकेला, उदास-सा नही लगता, लेकिन अगर घर मे उस पैण्ट को पहनने वाला न रहता हो तो हैंगर मे लटकी हुई पैण्ट…"

"कैसा अजीब सम्बन्ध है चीजों के बीच।" अमित ने मानो चौंकते हुए कहा, "दरअसल सम्बन्धो का यह पूरा सिलसिला ही कुछ अजीबोगरीब है। सचमुच हैंगर पर पैण्ट लटकी भी हो तो उससे क्या फर्क पड़ता है। तब हैंगर चाहे उदास न लगे, पर पैण्ट उदास या फिर निरर्थक लगने लगती है।"

"असल मे हर चीज अपने आप मे यानी अलग-थलग पडी हुई निरर्थक होती है। अर्थ उसका तभी होता है जब वह दूसरों से जुडती है…"

"अब छोड़ो भी इन बातों को।" अमित ने कुछ परेशान होते हुए कहा,

"हम लोग भी हैंगर, पैण्ट वगैरह की बात को खामखाह दार्शनिक टच दे रहे हैं।"

"नहीं, ऐसा नहीं है। दरअसल यह सम्बन्धों की बात है।" कहते हुए स्वयं वसु ने विषयांतर किया, "तुमने अपनी सब पैण्टें रख लीं ?"

"हाँ।"

"और कमीजें ?"

"वे भी।"

"जो मैंने पिछले बर्थडे पर तुम्हें दी थीं ?"

"हाँ, वह भी।"

"मेरे ख्याल से सभी कुछ रख लिया तुमने।"

"अरे हाँ, सुनो, दो-चार हैंगर ले जा सकता हूँ ?"

"चाहो तो सभी ले जाओ।"

"नहीं, तुम्हें भी तो जरूरत होगी साड़ियाँ लटकाने के लिए।"

"मैं और खरीद लूंगी।"

"खरीद तो मैं भी सकता हूँ।"

"अच्छा तो ऐसा करते हैं, आधे हैंगर तुम रख लो और आधे मैं रख लूंगी। क्यों ठीक है ?"

"बिल्कुल ठीक।"

"लगता है, तुमने बिना सोचे सहमति दे दी।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब बड़ा साफ है। मान लो यदि हैंगर तेरह हुए तो आधे-आधे कैसे बँटेंगे ?"

"तब तुम सात रख लेना।"

"नहीं, एक का फैसला लॉट्री निकाल कर करेंगे।"

"ओके, एग्रीड।...लेकिन रुको। मुझे आधे नहीं सिर्फ तीन-चार हैंगर चाहिए।"

"काम चल जाएगा तीन-चार से ?"

"न चला तो बाजार जाकर खरीद लाऊँगा। और चीजें भी तो खरीदनी होंगी समय-समय पर।"

क्षण-भर की चुप्पी।

वसु जाकर वार्डोब से तीन-चार हैंगर निकाल लाई।

अमित ने चलने की तैयारी पूरी कर ली थी अब तक। दोनो अटैचियाँ ऊपर तक भर गई थी। उनमें अच्छी तरह ताले लगाए और उन्हे सीधा खड़ा कर दिया। फिर बोला, "वसु!"

"हाँ।" अपलक अमित की ओर देखते हुए बोली वह।

"बहुत थका हूँ।"

"कोई बात नही, चाहो तो जाना कल तक के लिए स्थगित कर सकते हो।"

"नही, जब जाना ही है तो स्थगित करने की क्या जरूरत।"

"तुम्हारी इच्छा।"

"पर सोचता हूँ..."

"क्या?"

"यही कि तुम्हारे हाथ की बनी एक कप चाय पीकर जाऊँ।"

"चलो, यह भी सही।" कहती हुई वसु किचन की ओर चली गई।

"तुम्हे चाय बनाते कष्ट तो न होगा?" उसके पीछे-पीछे किचन के द्वार पर आ अमित ने पूछा।

"होता तो साफ कह देती कि कष्ट होगा। नही होगा, इसीलिए तो बना रही हूँ।" हाथ में दियासलाई ले मुड़ते हुए वसु बोली।

"शुक्रिया!"

"इसमें शुक्रिया अदा करने की कौन-सी बात है!" वसु ने मुस्कराते हुए कहा।

"तुम चाय पिला रही हो और मैं शुक्रिया तक अदा न करूँ!" अमित ने कहा, और ड्राइंग रूम मे सोफे पर जाकर बैठ गया। ठीक सामने दीवार पर कलैंडर टँगा था। 'आज क्या तारीख है?' अपने से ही पूछते हुए उसने कलैंडर पर निगाह डाली, जैसे उसे सचमुच तारीख याद न हो।

कुछ स्मरण हो आया हो, इस अंदाज मे एक झटके से सोफे से उठते हुए वह फिर किचन की ओर मुड़ गया।

"वसु!"

"हाँ।"

"तुम्हें मालूम है आज कितनी तारीख है ?"

"हाँ।"

"कितनी।"

"यही···वर्ष की आखिरी तारीख···"

"यानी ?"

"इकत्तीस दिसम्बर।"

"तो कल से नया साल शुरू हो रहा है।"

"हाँ···और जिन्दगी का एक नया अध्याय भी।"

"अच्छा, जरा बताओ तो, क्या वर्ष का आखिरी दिन होने की वजह से ही आज के दिन का महत्त्व है ?"

"मैं समझी नही तुम्हारा मतलब ?"

"थोड़ा याद करने की कोशिश करो···"

"क्या ?"

"यही कि आज के दिन का हमारे जीवन से भी कोई सीधा सम्बन्ध है ?"

"ओह !" मानो चौंक पड़ी वसु, "मैं भी कितनी भुलक्कड़ हो गई हूँ···"

"याद आया ?"

"हाँ। कैसा विचित्र संयोग है ! पाँच साल पहले···"

"नही, पाँच नही, ठीक पाँच साल पहले···" उसने 'ठीक' शब्द पर जोर दिया।

"हाँ, ठीक पाँच साल पहले ही तो हम एक सूत्र में बंधे थे···"

"और आज ठीक पाँच साल बाद हम एक-दूसरे से अलग हो रहे हैं···"

चाय बन गई थी। छानते हुए वसु ने दो कपो में चाय डाली, ट्रे में रखी और ड्राइंग रूम की ओर बढ गई।

"चलो, विदा होते-होते तुमने चाय पिलाने की बात कहकर अच्छा ही किया। और कुछ नही तो हम चाय पीते हुए ही अपने विवाह की पाँचवी

वर्षगाँठ का जश्न मना सकते हैं।"

बड़ी जोर का ठहाका लगाया अमित ने।

"क्यों, इसमें इतनी जोर से हँसने की क्या बात है?"

"बात तो धीमे से हँसने की भी नही है, पर तुम तो जानती ही हो, मैं अक्सर अकारण ही हँस दिया करता हूँ।" अमित ने कहा।

दोनो ड्राइंग रूम मे आ गए थे।

मेज के बीचो-बीच ट्रे रख दी वसु ने और आमने-सामने के सोफे पर बैठ गए दोनों।

कप हाथ में लेते हुए अमित की नजर फिर कलैंडर पर चली गई।

वसु उसकी ओर टकटकी लगाए देख रही थी।

"क्या देख रही हो?" अमित ने कहा।

"कुछ नही, बस यों ही। तुम सामने बैठे हो न···लेकिन तुम इतनी जोर से हँसे क्यों थे?"

"कहा न, कभी-कभी अकारण ही···"

"सचमुच अकारण ही हँसे थे?"

"तुम ज्यादा अच्छी तरह जानती हो।"

"पर हँसे तो तुम थे। जाहिर है कि मुझसे ज्यादा अच्छी तरह तुम जानते हो।"

"सो तो है।" अमित केवल मुस्कराया, "दरअसल मुझे तुम्हारी बात के अंतर्विरोध पर हँसी आ गई थी। एक वाक्य मे तुमने विदाई की बात कही और झट दूसरे ही वाक्य मे तुमने विवाह की पाँचवी वर्षगाँठ का जश्न मनाने की बात कह दी।"

"पर इसमे अंतर्विरोध कहाँ है!"

"क्यों, है नही क्या?"

"अच्छा देखो, आज इकत्तीस दिसम्बर है। है न?"

"हाँ, है।"

"आज के दिन ही हम जीवन साथी बने थे। बने थे न बाकायदा विवाह करके? और आज ही के दिन हम एक-दूसरे से अलग हो रहे हैं। हो रहे है न?"

"हाँ, हो तो रहे हैं।"

"फिर मेरी बात में अंतर्विरोध कैसा! अगर अंतर्विरोध है तो वह जीवन मे है, क्योंकि जिस तारीख को हम जीवन-साथी बने उस तारीख को एक-दूसरे से दूर भी हो रहे है। यही नही, जितना सोच-समझ कर हमने एक-दूसरे को स्वीकार किया था, उतना ही सोच-समझ कर, बातें, बहसें और सलाह-मश्विरा करके हमने एक-दूसरे को अस्वीकार कर दिया। कितनी सहजता से हो गया था वह सब और कितने सहज ढंग मे हो गया है यह सब···"

"हाँ, यह सब तो सहज ढग से हो गया है, किन्तु वह इतनी सहजता से कहाँ हुआ था! मुझे आज भी याद है तुम्हारे घर वालों ने कितना विरोध किया था, क्या-क्या धमकियाँ नही दी थी···"

"और तुम्हारे घर वालों ने भी तो···"

"हाँ, उन्होंने भी विरोध किया था, लेकिन उतना नही···"

"हाँ, उतना नही, क्योंकि भारतीय समाज-व्यवस्था में यदि पुरुष किसी दूसरी जाति या किसी दूसरे वर्ग की औरत को अपने घर ले आता है तो उसे उतनी कठिनाइयों, उतने विरोध का सामना नही करना पडता जितना कि औरत को···"

"तुम ठीक कहती हो, विरोध के झझावातों का औरत को ही अधिक सामना करना पड़ता है।···"

"खैर, छोडो भी।" चाय पीते हुए वसु ने कहा, "हम कहाँ भारतीय व्यवस्था और नर-नारी सम्बन्धों के चक्कर में पड गए। इन प्रश्नों पर फिर कभी खुले मन से, निरपेक्ष ढंग से विचार करेंगे···अब जब कि हम एक-दूसरे से अलग हो रहे है, इन बातों पर बहस करने की क्या जरूरत है।"

"ठीक ही है।" अमित ने किंचित गंभीर होते हुए कहा, "लेकिन वसु, एक बात पूछूँ?"

"पूछो।"

"क्या हम अपने इस फैसले को अभी कुछ और दिन के लिए स्थगित नही कर सकते?"

वसु हंसी।

अमित भी।

"पहले भी कितनी ही बार हमने इस फैसले को टाला था, स्थगित किया था। अब एक बार और स्थगित करने का कोई उपयोग नही है। हर नए दिन के साथ हम एक-दूसरे से दूर होते जा रहे थे, पर अब सचमुच दूर होंगे तो शायद दूरी वही तक रहेगी जहाँ तक आज है।"

"तो ठीक है।" कहते हुए अमित एकाएक उठ खड़ा हुआ। दूसरे कमरे में जाकर उसने दोनों अटैचियाँ उठाई और···

बालकनी से वसु उसे जाते तब तक देखती रही जब तक कि वह दिखाई दिया।

'अब ?' जैसे अपने से ही पूछा हो वसु ने, 'क्या होगा अब तेरा ?'

इस एक प्रश्न ने, इस अदना से सवाल ने मानो एक पूरी बहस ही छेड़ दी हो।

नई धुली चादर मे पलंग पर लेटी थी वसु। पलंग के दाहिने किनारे टेबल लैम्प का हल्का प्रकाश फैल रहा था। ठीक सामने किताबों की अल्मारी रखी थी। अल्मारी के ऊपर थी पत्रिकाएँ।

एक पत्रिका उठाकर पृष्ठों को पलटने लगी वसु। लेकिन हर पृष्ठ पर मानो एक यही सवाल लिखा था—'क्या होगा वसु अब तेरा ? क्या होगा ? क्या होगा ?'

नहीं, हर पृष्ठ पर केवल यह सवाल ही नही लिखा था, बल्कि अमित का चेहरा भी हर पृष्ठ पर उभर आ रहा था—नीली कमीज पहने, आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा लगाए, गोरा चिट्टा, धीमे-धीमे मुस्कराता अमित।

वसु ने झटके से पत्रिका उठाकर एक किनारे पटक दी और आँखें बन्द कर लीं। लेकिन यह क्या ? अमित था कि आँखों के आगे से हटता ही न था और प्रश्न था कि और अधिक उजला होकर सामने आ गया था।

फिर जैसे प्रश्न का उत्तर प्रश्न में ही दिया वसु ने, 'क्या मैं इतनी कमजोर हूँ कि अकेले रह ही नही सकती ?'

'अकेले रह तो सकती हो···' जैसे कोई वसु से ही कह रहा था, 'लेकिन···'

'लेकिन क्या ?'

'यही कि···'

वसु बड़ी जोर से हँसी, 'कितना खोखला तर्क है कि औरत के ऊपर पुरुष का साया तो होना ही चाहिए। पुरुष के बिना औरत की सार्थकता कहाँ है ! बिना पुरुष के औरत अधूरी है···'

'लेकिन क्या सचमुच वसु तू जीवन की इस सच्चाई को स्वीकार नही करती ?···और यदि तू स्वीकार न भी करे तो इससे क्या फर्क पड़ता है। चल, मान ले तू अकेले जीवन काट लेगी, लेकिन क्या सबके लिए यह सम्भव है ? क्या पुरुष और स्त्री के बिना परिवार हो सकता है ? और क्या परिवार के बिना···'

वसु स्वयं ही प्रश्न कर रही थी और स्वयं ही उत्तर दे रही थी।

प्रश्न और उत्तर।

उत्तर और प्रश्न।

मानो एक सिलसिला था, जो टूटता ही न था। हर प्रश्न का उत्तर था वसु के पास, लेकिन बार-बार उसे लग रहा था कि कही कुछ है जो अनुत्तरित रह गया है और वह मानो अपने आप मे पूरी होते हुए भी अधूरी ही है।···

नामी दादाओं से लेकर प्रमुख रिसर्च स्कॉलर तक। अनेक प्राध्यापक भी दादा के दोस्त हैं। कुछ को तो वह अपने लँगोटिया यार बताते है। दादा का कहना है, "ये साले जब बी० ए० में आए थे तो इनके कल्ले भी नही फूटे थे।"

दादा के प्रति छात्रों के मन में दो ही तरह की भावनाएँ हैं—कुछ उनके प्रति श्रद्धानत हैं और कुछ उनसे आतंकित रहते हैं। जो श्रद्धानत हैं, उनका ख्याल है कि विश्वविद्यालय ने दादा के प्रति अन्याय किया है और जो आतंकित हैं, उनका ख्याल है कि दादा ने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया है और अब भी कर रहे हैं। बहरहाल इतना तय है कि दादा को प्रतिभावान सभी मानते हैं।

पॉलिटिक्स में दादा की गहरी रुचि है लेकिन विश्वविद्यालय की पॉलिटिक्स में ही। कहनेवाले तो यहाँ तक कहते हैं कि दादा ने जिसे भी आशीर्वाद दिया, वह विश्वविद्यालय छात्र-यूनियन का अध्यक्ष बन गया। उनके अज़ीज़ दोस्त अक्सर मजाक में असलियत बता देते हैं, "दादा तो फिराक़ गोरखपुरी हैं। जिस तरह फिराक़ का आशीर्वाद लेने वाला डिप्टी कलक्टर बन जाता था, उसी तरह दादा का आशीर्वाद लेने वाला यूनियन का अध्यक्ष।"

संक्षेप में दादा विश्वविद्यालय के 'किंग मेकर' है। उन्होंने खुद कभी चुनाव नही लड़ा, लेकिन बहुतों को लड़ाया और जिताया है।

जिस समय किशोर दादा के कमरे में पहुँचा, वह अपने अज़ीज़ दोस्तों, चेलों और चाहनेवालों के साथ इस समस्या पर विचार कर रहे थे कि आगामी सत्र में उपकुलपति के विरुद्ध किस तरह आंदोलन चलाया जाए और किसे यूनियन का प्रेसीडेण्ट बनाया जाए। किशोर को देखते ही दादा का एक अज़ीज़ उछल पड़ा, "इसे कहते हैं गुदड़ी में लाल।"

किशोर समझ नहीं पाया कि यह एकाएक क्या हो गया।

तभी दादा के एक चेले ने कहा, "क्यों भई, किशोर, तुझे इस बार यूनियन प्रेसीडेंट क्यों न बनवा दिया जाय?"

किशोर कुछ कहता कि तभी दादा के एक चहेते ने अपने विचार प्रकट किए, "तुम घबड़ाओ मत। हम लोग जब तुम्हारे साथ है तो चुनाव तो

जीत ही जाओगे।"

एक और चेले ने फरमाया, "इस होस्टल के जिस मेम्बर ने भी चुनाव लड़ा, हमेशा जीता है। सब जानते हैं कि यह होस्टल दादा का है।"

सब की बातें सुन लेने के बाद अंत में दादा ने विचार प्रकट किए, "साला वाइस-चासलर हर साल प्रचार करता है कि यूनियन गुण्डों ने हथिया रखी है। इस बार तुझे अध्यक्ष बनवाए देते है, देखें फिर कैसे साला हमे बदनाम करता है।"

दादा को पता था कि किशोर ब्रिलियेंट स्टूडेंट है और समाज-शास्त्र विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर धवन का प्रिय छात्र है। दादा को यह भी पता था कि प्रोफेसर धवन और उपकुलपति की आपस में नही पटती। इसलिए उन्हें किशोर को यूनियन के प्रेसीडेंट पद के लिए चुनाव लड़वा डालने का सुझाव बड़ा पसन्द आया। उन्होंने सोचा, एक तीर से दो शिकार करने का यही सबसे अच्छा अवसर है।

लेकिन किशोर विश्वविद्यालय-यूनियन की राजनीति मे पड़ना नही चाहता था। उसने सिर्फ कोर्स की किताबों पर ही ध्यान केन्द्रित रखने वाले छात्रों की तरह अत्यन्त विनम्रतापूर्वक और सकुचाते हुए कहा, "दादा, आप मुझे चुनाव लड़वाना चाहते हैं, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है, किन्तु मेरी परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि चुनाव लड़ पाना मेरे लिए कठिन है।"

दादा ने नाराजी जाहिर करते हुए कहा, "बरखुरदार, तुम भी खूब हो। लौंडे हमारे पीछे पड़े रहते हैं, हम फिर भी उन्हे 'लिफ्ट' नही देते और एक तुम हो कि···"

"बात यह है कि, किशोर ने दादा का वाक्य पूरा होने के पहले ही कह डाला, "मेरे घर की आर्थिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि मुझे इस बार पढाई जारी रखने के लिए भी कही न कही नौकरी करनी पड़ेगी, इसलिए यूनियन की अध्यक्षता···"

"वाह-वाह! तुमने भी खूब कही।" दादा के एक चेले ने ठहाका लगाते हुए कहा, "यूनियन के पास जो इतना बडा फड है, वह आखिर किस काम आएगा? अरे, यार, हम लोग अकेले ही रुपया थोडे खा जाएँगे।"

फिर उसने दादा की ओर देखते हुए कहा, "क्यो रामकरण भैया, क्या

ख्याल है ?"

"बहुत नेक ख्याल है।" किशोर की ओर मुखातिब होते हुए दादा ने कहा—"तुम्हारे घर के लिए यूनियन के फंड से व्यवस्था कर दी जाएगी।"

किशोर के सामने कोई चारा नहीं था। वह दादा से यह नहीं कह सकता था कि यूनियन का फंड हड़प जाना अनैतिकता है क्योंकि यह दादा की नैतिकता को चुनौती देना होता। इसलिए उसने दूसरा तर्क पेश किया, "आप तो जानते ही हैं कि यूनियन प्रेसीण्डेंट बन कर जीवन कितना व्यस्त हो जाता है। ऐसे में पढ़ाई भी करते रहना यूनियन के साथ अन्याय करना होगा। अगर मैं यूनियन अध्यक्ष होकर आन्दोलन में भाग न लूँ तो मेरे साथ ही आपकी भी बदनामी होगी और यदि मैं आन्दोलन के ही चक्कर में रह गया तो मेरा फर्स्ट क्लास मिस हो जाएगा।"

दादा को यह तर्क कुछ पुख्ता नजर आया। पहले तो उन्होंने कुछ पुराने उदाहरण देकर किशोर को समझाने की कोशिश की कि यूनियन की कार्रवाइयों में भाग लेकर भी वे लोग फर्स्ट डिवीजन आए थे, लेकिन उन्होंने इस बात पर सहमति अवश्य प्रकट की कि उन लोगों के समय में यूनियन की गतिविधियाँ एकदम ठप्प पड़ गई थीं क्योंकि आखिरकार यूनियन की अध्यक्षता है तो 'होल टाइम वर्क' ही।

अन्त में समझौता इस बात पर हुआ कि यदि किशोर के एम० ए० प्रथम वर्ष में फर्स्ट डिवीजन के नम्बर हुए तो वह चुनाव नहीं लड़ेगा और फर्स्ट डिवीजन से कम नम्बर हुए तो उसे दादा के आदेश का पालन करना पड़ेगा।

इस समझौते के बाद शाम के माहौल में दादा अपने अजीब दोस्तों, चेलों और चाहने वालों के साथ विकल्प के तौर पर यूनियन के अध्यक्ष-पद के लिए किसी नए नाम पर विचार करते हुए घूमने निकल गए। दादा का ख्याल था कि इस बार किसी नए चेहरे को 'फील्ड' में लाना चाहिए। वह विश्वविद्यालय के पेशेवर राजनीतिबाजों से किसी को भी चुनाव मैदान में खड़ा करने के पक्ष में नहीं थे। जब उन्होंने ताल ठोक कर कहा कि "मैं इस बार यूनियन में 'यूथ कांग्रेस', 'स्टूडेंट्स फेडरेशन' और 'विद्यार्थी परिषद्'

किसी को भी नही घुसने दूंगा, सब साले अपने दलीय हितों के चक्कर में रहते हैं," तो दादा के अजीज़ दोस्तों, चेलों और चाहने वालों को लगा कि इस बार बड़े-बड़े नेता भी विश्वविद्यालय में भाषण दे जाएँ तो भी कुछ नही हो सकता, जीतेगा दादा का ही उम्मीदवार।

तभी दादा के एक चेले ने कहा, "अगर आप से प्रदेश के मुख्य मंत्री ने बुलाकर अनुरोध किया कि हमारी पार्टी के उम्मीदवार को समर्थन दीजिए; तो आप क्या करेंगे?"

"हाँ," दादा ने अपना नन्हा-सा सीना चौड़ा करते हुए कहा, "तब हम सोचेंगे। मुख्य मन्त्री आदमी अच्छा है।" साथ ही उन्होने धीरे से इच्छा प्रकट की, "यारो, कोई ऐसी तरकीब भिड़ाओ कि मुख्यमन्त्री हमें विश्वविद्यालय की राजनीति पर विचार-विमर्श के लिए निमन्त्रित करे। आखिर हमारी लड़ाई तो उपकुलपति से है, मुख्यमन्त्री से नहीं।"

उपकुलपति से दादा की लडाई महज इसी कारण थी कि, दादा के शब्दों में, "साला अपने को वडा समझने लगा है।"

दादा सहित सभी ऐसी तरकीब भिडाने मे जुट गए कि प्रदेश के मुख्यमन्त्री विश्वविद्यालय के 'किंग मेकर' रामकरण दादा को विचार-विमर्श के लिए निमंत्रित करें। शीघ्र ही उन्हें महसूस हुआ कि ऐसी तरकीब भिडाने का सर्वोत्तम स्थान है 'बार' जो सामने ही नजर आ रहा था।

और वे 'बार' की ओर मुड गए।

जिस समय दादा अपने चेलो और चहेतो के साथ 'बार' में प्रवेश कर रहे थे, होस्टल के अपने एकान्त कमरे मे किशोर खाट पर लेटा कहानी की पुस्तक पढ रहा था, लेकिन बार-बार उसका ध्यान कहानी की किताब मे हट जाता। बार-बार उसके सामने घर की आर्थिक परेशानियां सिर उठाने लगती।

बहरहाल उस प्रकरण की चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है। किस्साकोताह यह कि इसी तरह किशोर कहानी की किताबें पढता रहा, इसी तरह दादा अपने चेलों और चहेतो के साथ 'बार' मे बोरियत दूर करने जाते रहे और इसी तरह दिन बीतते रहे।

और दिन बीतने के साथ ही एक दिन किशोर का परीक्षा परिणाम भी

आ गया। एम० ए० प्रथम वर्ष में किशोर के सबसे अधिक नम्बर थे। उसने सोचा, चलो रामकरण दादा से मुक्ति मिली, नही तो वह उसे यूनियन-अध्यक्ष पद का चुनाव लड़वा ही डालते। उसने जब दादा को एम० ए० प्रथम वर्ष की अपनी सफलता के बारे में बताया तो दादा के कमरे के एक कोने मे पच्च से पान की पीक फेंकते हुए कहा, "जाओ, बच्चे, इस बार तुम्हे छोड़ दिया। तुम भी क्या याद करोगे।" फिर उन्होंने धीरे से कहा, "कोई कठिनाई हो तो बताना। हम दोस्तों के दोस्त हैं। हमहू अपने समय में 'टॉप' किये हैं।···"

कहते-कहते दादा आत्मीय हो उठे। जब वह बहुत आत्मीय हो जाते तो अपने गाँव की भाषा बोलने लगते।

किशोर को जहाँ एम० ए० प्रथम वर्ष मे सबसे अधिक नम्बर लाने की खुशी थी, वहीं घर की नई परेशानियो से उसकी चिंता भी बढ़ गई थी। गाँव के एक महाजन ने उसके पिता पर मुकदमा चला दिया था, क्योंकि वे उसका पैसा नही अदा कर सकते थे। पिता की चिट्ठी मेज पर ही पड़ी थी। दादा की आँखो से किशोर की उदासी छिप नही सकी। वह उचक कर किशोर के कंधे पर हाथ मारते हुए बोले, "प्यारे लाल, फर्स्ट क्लास आए हो, फिर भी मूँग की खिचड़ी जैसा मुँह बनाए बैठे हो। कौन-सी चिंता खाए जा रही है?"

किशोर ने धीरे से कहा, "बस यों ही जरा एक मुकदमे का चक्कर पड़ गया है···"

"कउन तुम पर मुकदमा कर दिहिस, बचवा?" दादा ने फिर आत्मीयता दिखायी।

किशोर ने सक्षेप मे सब कुछ बताया तो दादा अपनी नन्ही-नन्ही मूँछों पर ताव देते हुए बोले, "तुम कहो तो सबका उठवा देई, सारा खेलइ खतम हो जइहै। बस तुम एक बार कह भर देव।"

और वह जिस तरह टहलते हुए किशोर के कमरे में आए थे, उसी तरह लौट गए।

विश्वविद्यालय खुले कई दिन हो गए थे, लेकिन कोई वारदात नही हो

पाई थी।

होस्टलों के लगभग सभी कमरे भर गए थे।

विश्वविद्यालय में नए चेहरों की भरमार थी। ये नए चेहरे खास तौर पर बी० ए० प्रथम वर्ष के थे जो विश्वविद्यासय की दीवारों, कमरों और अन्य साथियों को ठीक उसी कौतुक से देखते जैसे छोटे बच्चे चिडियाघर के जानवरों को देखते है। रामकरण दादा का नाम इन सभी को न जाने कैसे पहले से ही पता चल गया था। यह केवल इसी वर्ष का किस्सा नहीं था। हर साल नए आने वाले छात्र रामकरण दादा के नाम से पूर्व परिचित रहते। कैसे दादा का नाम नए से नए छात्र तक पहुँच जाता, इस रहस्य का आज तक किसी को पता नही चला है।

दादा अपने चेलो और चाहने वालों के साथ कभी रजिस्ट्रार कार्यालय के पास तो कभी उपकुलपति के कमरे के नजदीक और कभी किसी फैकल्टी में तो कभी किसी फैकल्टी में चक्कर लगा रहे थे। यह क्रम हर रोज का था। दादा के चेलों और चाहने वालों के ग्रुप में विश्वविद्यालय खुलने के पहले दिन से ही अनेक नए सदस्य शामिल हो गए थे। दरअसल कुछ को तो दादा की टोली के साथ घूमना गौरव का विषय नजर आता। दादा यदि दो क्षण भी उनसे बातचीत कर लेते तो उन्हें लगता कि सारे विश्वविद्यालय में उनसे अधिक भाग्यशाली कोई नहो है।

दादा कोई ऐसा बहाना खोज रहे थे कि किसी प्रकार 'वी० सी०' के विरुद्ध छात्रों को भड़काया जा सके और हड़ताल की भूमिका तैयार हो सके, किन्तु विश्वविद्यालय को खुले कई दिन हो जाने के बावजूद दादा न तो कोई बहाना खोज सके, न कोई भूमिका तैयार कर सके। उन्हें अपनी विफलता पर खीझ होने लगी थी। उनके निकटस्थ सहयोगी दुखी थे। यह दादा की प्रतिष्ठा का प्रश्न था।

विश्वविद्यालय यूनियन के चुनाव नजदीक आए और सबके देखते-देखते हो भी गए, किन्तु दादा फिर भी 'वी० सी०' के खिलाफ कोई आन्दोलन नही छेड़ सके। हाँ, इतना जरूर हुआ कि सदा की भाँति इस बार भी यूनियन अध्यक्ष और सचिव का पद उन्हीं दो नेताओं को मिला जिन्हें दादा का वरदहस्त प्राप्त था।

यूनियन के चुनावों के बाद एक दिन एकाएक नई परिस्थिति पैदा हो गई—राज्य सरकार के शिक्षा विभाग ने ऐलान कर दिया कि अगले वर्ष से छात्रो के लिए यूनियनों की सदस्यता अनिवार्य नही रहेगी। उपकुलपति ने शिक्षा विभाग की इस नई नीति का जोरदार स्वागत किया, क्योंकि नई नीति का मतलब था कि यूनियन, जो आये दिन उनकी सत्ता और महत्ता को चुनौती देती रहती थी, शक्तिहीन हो जाएगी क्योकि सदस्यता अनिवार्य न होने के कारण बहुत कम छात्र यूनियन के सदस्य बनेगे।

लेकिन इतनी मोटी बात भी पहले तो यूनियन अध्यक्ष और सचिव के पल्ले नही पड़ी, किन्तु जब रामकरण दादा और उनके अज़ीज़ दोस्तों ने दोनों को नई नीति की पेचीदगी समझाई तो अगले ही दिन से विश्वविद्यालय में मुख्यमत्री, शिक्षामत्री और उपकुलपति के खिलाफ नारे लगने लगे, वातावरण मे गर्मी आ गई और सभाओं ने जोर पकड़ लिया।

इस बार चूँकि शिक्षा-सत्र के आरम्भ मे हड़ताल नही हुई थी, इसलिए विद्यार्थियो को लग रहा था कि इस साल कुछ मजा नही आया। लेकिन अब उन्हे मजा आने लगा था, क्योकि हड़ताल शुरू हो गई थी।

रामकरण दादा चूँकि 'किंग मेकर' थे, इसलिए वह हड़ताल में पीछे ही रहते थे। यही कारण था कि वह कभी गिरफ्तार नही हुए थे, लेकिन आन्दोलन सम्बन्धी नीतियो का निर्धारण वही किया करते थे। इस बार भी नीति-निर्धारण उन्होंने ही किया। सभाओं और नारेबाजी से जब वातावरण गर्म हो गया तो दादा की सलाह पर यूनियन अध्यक्ष और सचिव ने एक दिन छात्रों से यूनियन भवन में एकत्रित होकर जुलूस की शक्ल में राज्य सचिवालय जाने का आह्वान किया। सचिवालय मे ही प्रदेश का विधान सभा भवन भी था। शहर के सभी स्कूल-कालेजों की यूनियनों को भी आदेश दिये गए कि वे अपने-अपने जुलूस लेकर सचिवालय पहुँचें।

और निश्चित दिन जब जुलूस सचिवालय पहुँचा तो विश्वविद्यालय-यूनियन के अध्यक्ष का भाषण समाप्त होने के साथ ही छात्रों और पुलिस मे मुठभेड शुरू हो गई। दादा को खुशी हुई कि यूनियन-अध्यक्ष ने ठीक वैसा ही भाषण दिया था, जैसा उन्होंने रटाया था। इधर सचिवालय के बाहर पुलिस और छात्रों मे ईंट-पत्थर और डडे चले, उधर उपकुलपति ने मौका पाकर

विश्वविद्यालय में पुलिस बुलवा ली। दादा की प्रसन्नता की सीमा न रही। उन्होंने अपनी नन्ही-नन्ही मूँछों पर ताव देते हुए कहा, "साला 'वी० सी०' बहुत बनता था, एक ही हड़ताल में टें बोल गया। बुलवानी पड़ी पुलिस, अब देखना कैसा मजा आएगा!"

इसके बाद दादा और उनके दोस्तों ने धीरे से खबर फैला दी कि पुलिस के लाठी चलाने से एक छात्र की मृत्यु हो गई और बीस विद्यार्थी घायल हो गए। देखते-देखते शहर भर में तनाव फैल गया। फिर एक खबर और फैलाई गई कि यूनियन-अध्यक्ष और सचिव को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है। यह खबर भी दादा के गुट ने फैलाई थी। लेकिन यह महज एक अफवाह थी। यूनियन अध्यक्ष और सचिव दोनों में से कोई गिरफ्तार नहीं हुआ था। दोनों सचिवालय के सामने भाषण देने के बाद छात्रों और पुलिस की मुठभेड़ के समय चुपके से खिसक गए थे।

इस अफवाह ने छात्र-समुदाय में आग का काम किया। एक-एक करके प्रदेश भर के विश्वविद्यालयों में हड़तालें आरम्भ हो गईं। जिन विश्व-विद्यालयों के उपकुलपतियों ने शिक्षा विभाग की नई नीति का विरोध किया था, उन्हें भी छात्र-नेताओं ने नहीं बख्शा, क्योंकि जिस तरह किसी भी कर्मचारी का पहले नम्बर का दुश्मन उसका अफसर होता है, उसी भाँति छात्र नेताओं का सबसे बड़ा दुश्मन 'वी० सी०' होता है। अतः 'वी० सी०' का हर कीमत पर विरोध करना छात्र-नेताओं का पुनीत कर्तव्य है।

हर नए दिन के साथ छात्र आन्दोलन निरन्तर उग्र होने लगा और एक पर एक नाटकीय घटनाएँ होती चली गईं। सत्ताधारी पार्टी के जिन प्रमुख नेताओं को सरकार में शामिल नहीं किया गया था, उन्होंने पार्टी से सम्बन्ध तोड़ लिए। छात्रों के आन्दोलन ने प्रदेश में अच्छे-खासे राजनीतिक संकट को जन्म दे दिया। अवसरवादी राजनीतिज्ञ भी सिद्धांतवादी बन गए। जब तक उन्हें मंत्री बनाए जाने की खबर थी, तब तक वे छात्र आंदोलन को मूर्खतापूर्ण और राजनीति से प्रेरित बता रहे थे। उन्हें इसके पीछे विपक्ष का प्रतिक्रियावादी षड्यंत्र नजर आ रहा था जिसे किन्हीं विदेशी शक्तियों से प्रेरणा मिल रही थी। लेकिन जैसे ही उन्हें पता चला कि

मुख्यमंत्री ने उन्हें संकट के इस मौके पर भी मंत्री-पद नही सौंपा है, वे छात्र आन्दोलन को उचित घोषित करने लगे।

और इस प्रकार विधान मडल मे राजनीतिक संकट के बादल घहराते चले गए। विपक्षी दल की शक्ति बढ़ती चली गई। मुख्यमंत्री और उनके सहयोगियों ने सचिवालय से वे फाइलें छँटवानी और गायब करनी आरम्भ कर दीं जो आगे जाकर उनके लिए मुसीबत का कारण बन सकती थी।

उधर उपकुलपति ने विश्वविद्यालय से पुलिस नही हटाई तो छात्रों ने उनके घर पर ही धरना दे दिया।

रामकरण दादा बेहद प्रसन्न थे, वर्षों बाद मानो उनकी मनोकामना पूरी होने जा रही थी। वह चाहते थे, ऐसी स्थिति आ जाए कि 'वी० सी' को इस्तीफा देना पडे। यों उन्हे पहले खुद भी उम्मीद नही थी कि आन्दोलन इतना प्रबल हो उठेगा। उन्हे मुख्यमत्री पर भी रह-रहकर क्रोध आ रहा था, क्योंकि उसने दादा को सलाह-मशविरे के लिए बुलाने की कभी सोची तक नही।

विधान सभा में विपक्ष ने मानो बलवा खड़ा कर दिया। मुख्यमत्री को शक्ति परीक्षण की चुनौतियाँ दी जाने लगी।

और एक रोज जब छात्र सचिवालय के बाहर प्रदर्शन कर रहे थे, अन्दर विधान सभा में एकाएक सरकार का पतन हो गया। मुख्यमंत्री को बिल्कुल शंका नही थी कि वे इस प्रकार एकाएक अल्पमत मे हो जाएँगे, अन्यथा वे पहले ही 'प्रदेश के हित में' विधानसभा का सत्रावसान कर देते।

सरकार का पतन भी बड़े नाटकीय ढग से हुआ। विधानसभा मे मुख्य मंत्री एक लम्बा भाषण देने के बाद जैसे ही बैठे, पार्टी के एक प्रमुख नेता ने विधानसभा अध्यक्ष से अनुरोध किया कि उन्हे भी दो मिनट बोलने की अनुमति दी जाए।

अध्यक्ष ने सहर्ष अनुमति दी तो उन्होंने दो मिनट के बजाय एक मिनट से भी कम समय मे अपना भाषण कर दिया। उन्होंने सिर्फ इतना कहा, "अध्यक्ष महोदय, मुझे और मेरे कई सहयोगियों को वर्तमान मुख्यमत्री और सरकार पर भरोसा नही रहा। मैं लोकतंत्र मे विश्वास करता हूँ, इसलिए मेरे और मेरे बीस सहयोगियों के विपक्ष मे बैठने की व्यवस्था कर दी

जाए।"

इतना कहकर वे अपने बीस साथियो के साथ विपक्ष वाली सीटो की ओर बढ़ चले। विपक्ष की सीटो की ओर से गालियो की और सत्तारूढ दल वाली सीटों की ओर से गालियो की आवाज सुनाई देने लगी। संक्षेप मे विधान सभा का दृश्य बडा मनोहारी लग रहा था और दोनों ही ओर से लोकतंत्र की भरसक रक्षा की जा रही थी।

इधर मुख्यमंत्री राज्यपाल निवास मे अपना त्यागपत्र देने गए, उधर उपकुलपति ने भी इस्तीफा देने का ऐलान कर दिया। वे जानते थे कि इस्तीफा देना अब उनके लिए अनिवार्य हो गया है क्योंकि 'वे मुख्यमंत्री के आदमी' के रूप में जाने जाते थे। दरअसल मुख्यमंत्री ने ही उन्हें पुलिस अधिकारी से उपकुलपति बनाया था। वे उपकुलपति बनने से पहले वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक थे। विपक्ष के नेता उनमे चिढे हुए तो थे ही, इसलिए जाहिर है कि सत्ता मे आने के बाद वे उपकुलपति को त्यागपत्र देने के लिए अवश्य बाध्य कर देते।

जिस समय उपकुलपति ने पद त्यागने की घोषणा की, रामकरण दादा की बाछें खिल गई। उन्होंने अपनी नन्ही-नन्ही मूँछों पर एक बार फिर ताव देते हुए कहा, "साला बहुत बनता था। ऐसे बीसियन का हम बहुत देखिन है।"

राज्यपाल ने मुख्यमंत्री का त्यागपत्र स्वीकार करने के साथ ही उनसे कहा, "नई व्यवस्था होने तक आप अपने पद पर काम करते रहें।"

उपकुलपति जब अपना इस्तीफा देने गए तो उसे भी स्वीकार कर लिया गया। राज्यपाल ने, जो कुलपति भी थे, उनसे कहा, "नई व्यवस्था होने तक आप अपने पद पर काम करते रहें।"

उपकुलपति ने नई व्यवस्था होने तक अपना काम जारी रखा—पुलिस छात्र-यूनियन के कार्यालय और सभी फैकल्टियों में जमी रही।

अब छात्रों की हडताल समाप्त हो गई थी।

उन्होंने बलिदान-दिवस मनाया। यह बलिदान-दिवस पुलिस और विद्यार्थियों में सचिवालय भवन के सामने हुए संघर्ष मे मरे छात्रों की स्मृति

मे मनाया गया, हालाँकि सच यह था कि उस दिन कोई भी छात्र नही मरा था। बलिदान-दिवस की एक विशेषता यह थी कि उस दिन छात्र-यूनियन के अध्यक्ष और सचिव एकाएक सभा मे टपक पड़े। उनके बारे मे खबर यह थी कि वे जेल मे बन्द है। लेकिन सच यह था कि वे जेल मे नही थे, बल्कि मुख्य मत्री का तख्ता उलटने वाले दलबदलू नेता के घर इतने दिन मजे मे माल काट रहे थे। अध्यक्ष और सचिव जब मच पर पहुँचे तो भीड़ ने तालियाँ पीट-पीटकर उनका स्वागत किया। उनसे पहले के वक्ताओ ने उन्हें चन्द्रशेखर आजाद और शहीद भगतसिंह जैसा महान क्रांतिकारी बताते हुए भावी भारत का कर्णधार घोषित किया।

यूनियन अध्यक्ष और सचिव ने इतने दिनो तक वीरतापूर्वक आन्दोलन चलाए रखने के लिए छात्रो को बधाई दी। दोनों ने छात्र-शक्ति पर जोरदार भाषण दिए और कहा कि जब-जब हम पर अन्याय होगा, हम मुँहतोड जवाब देंगे। इसके बाद काफी देर तक हर आन्दोलन मे काम आने वाला नारा लगता रहा—"जो हमसे टकराएगा, चूर-चूर हो जाएगा।" दोनों ने छात्रो की बेताब भीड़ को बताया कि जब वे गिरफ्तार थे तो पहले थाने में और फिर जेल में उनके साथ कैसे-कैसे अन्याय हुए। वातावरण 'शेम-शेम' की ध्वनि से गूँज उठा।

सभा के अत मे विद्यार्थियों ने प्रण किया कि जब तक नया उपकुलपति अपना पद नही सम्भाल लेता, तब तक वे कक्षाओ मे नही जायेंगे और इस पवित्र प्रण का सच्चे मन से पालन किया गया।

जिस दिन दलबदलू नेता ने प्रदेश के नए मुख्यमंत्री के पद की शपथ ली, उसी के दूसरे दिन राज्यपाल ने नए उपकुलपति की भी नियुक्ति कर दी। पहले यह पद वरिष्ठता का ध्यान रखते हुए प्रोफ़ेसर धवन को दिया गया, लेकिन प्रोफ़ेसर धवन ने प्रशासनिक कार्य मे रुचि न होने के कारण यह दायित्व स्वीकार करने से इनकार कर दिया। अंत में उपकुलपति का पद सौंपा गया इतिहास के विभागाध्यक्ष प्रोफ़ेसर भटनागर को। प्रोफ़ेसर भटनागर छात्रो मे लोकप्रिय थे और उनके उपकुलपति बन जाने से विश्वविद्यालय में शांति लौट आने की पूरी-पूरी आशा थी। इसलिए सभी ने उपकुलपति पद पर प्रोफ़ेसर भटनागर की नियुक्ति का स्वागत किया।

किन्तु रामकरण दादा प्रोफेसर भटनागर की नियुक्ति से बेहद दुखी थे। प्रोफेसर भटनागर ने केवल दादा के पी-एच० डी० के गाइड थे, बल्कि उनके प्रति दादा के मन में सम्मान भी था। इसलिए दादा को लगा कि अब कुछ वर्षों तक उन्हें विश्वविद्यालय की हड़ताल सम्बन्धी सक्रिय राजनीति से अलग हटना पड़ेगा। संक्षेप मे, प्रोफेसर भटनागर की उपकुलपति पद पर नियुक्ति का दिन दादा के जीवन का सबसे दुखद दिन था।

नए मुख्यमंत्री ने कार्यभार सँभालने के साथ ही पिछली सरकार की शिक्षा-नीति को रद्द घोषित कर दिया। इस पर छात्रों ने मुख्यमंत्री के सम्मान में जुलूस निकाला और नए मुख्यमत्री सुरक्षा की परवाह किए बिना सचिवालय के बाहर छात्रों से समक्ष भाषण देने आए। दूसरे दिन समाचार पत्रों ने नए मुख्यमंत्री के इस महान कार्य की भूरि-भूरि सराहना की और छात्र-सभा में भाषण देते हुए उनकी फोटो पहले पृष्ठ पर छापी।

यह सारा नाटकीय घटनाक्रम बीस-पच्चीस दिन में ही सम्पन्न हो गया। कक्षाओं में फिर से पढाई आरम्भ हो गई।

दो छात्र कला-संकाय के लम्बे बरामदे में बातें करते जा रहे थे। एक ने कहा, "हड़ताल तो हुई, लेकिन मजा नही आया।"

"मजा क्या आता," दूसरे ने विचार प्रकट किए, "विश्वविद्यालय पूरे एक महीने भी बद नही रहा।"

विश्वविद्यालय में शाति लौट आई थी। परीक्षाओं के दिन भी अधिक दूर नही रह गए थे। नए उपकुलपति प्रोफेसर भटनागर ने परीक्षा की तिथियों का ऐलान कर दिया। कोई और 'वी० सी०' होता तो इसी प्रश्न पर छात्र हड़ताल कर डालते। लेकिन एक तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रोफेसर भटनागर छात्रो मे लोकप्रिय थे और दूसरे कुछ ही दिन पूर्व प्रदेश-व्यापी हड़ताल हो चुकी थी, इसलिए दादा ने यूनियन अध्यक्ष और सचिव को समझाया, "अब हड़ताल करना ठीक नही। जनमत हमारे विरुद्ध हो जाएगा।"

यूनियन अध्यक्ष और सचिव को दादा का मत तर्कसंगत प्रतीत हुआ, इसलिए 'वी० सी०' से केवल अनुरोध किया गया कि वे परीक्षा की तिथियाँ

कुछ आगे सरका दें, क्योंकि छात्रों ने पिछले दिनों जो महान संघर्ष किया था, उसके कारण पढ़ाई में काफी बाधा पड़ी थी। नए 'वी० सी' ने अनुरोध पर विचार किया और परीक्षा की तिथियाँ एक पखवाड़े आगे सरका दीं। दरअसल उन्हें पहले ही मालूम था कि छात्र उनसे परीक्षा-तिथियाँ आगे बढ़ाने का अनुरोध करेंगे, इसलिए उन्होंने पहले ही परीक्षा-कार्यक्रम अन्य वर्षों की अपेक्षा एक पखवाड़े पीछे रखा था।

किशोर की पढ़ाई पूरे जोरों पर थी। एक शाम 'किंग मेकर' रामकरण दादा उसके कमरे में आए। उन्होंने किशोर के कंधे पर हाथ मारते हुए कहा, "तुमसे कहते रहे कि लड़ जाओ यूनियन प्रेसीडेण्ट का चुनाव, लेकिन तुम नहीं माने, सरऊ! देख लेव, नया लौंडा मार ले गया बाजी। सारे प्रदेश में नाम होइगवा है।"

किशोर ने दादा के सामने सचमुच खेद प्रकट किया कि उसने नाम कमाने का एक अच्छा अवसर खो दिया। दादा उसे परीक्षा में पहले जैसी सफलता प्राप्त करने का आशीर्वाद देकर लौट गए।

अभिनेता

"नही, कभी नही," शशाक ने लगभग पैर पटकते हुए पूरवी को अपना निर्णय सुनाया, "अब कभी रंगमंच की दुनिया में वापस नही लौटूंगा।"

"लेकिन क्यों?" प्रश्नाकुलता पूरबी के होठो पर ही नही नेत्रों मे भी उमड आई।

"क्यों?" हँसते हुए कहा शशाक ने, "कारण जानना चाहती हो? लेकिन कारण जानकर करोगी क्या?"

सहसा शशाक गंभीर हो गया। खिडकी के ग्रिल्स के सहारे उसने पीठ टिका दी और उसकी आंखे सुरुचिपूर्वक सजे अपने ड्राइंगरूम की छत पर जा टिकी। सीलिंग से लटका पखा पूरी रफ्तार से चल रहा था। एक तरफ दीवार मे ट्यूब लाइट से झरता दूधिया प्रकाश कमरे को आलोकित कर रहा था। यकवयक उसकी उँगलियाँ डार्मनिंग टेबल पर रखे हुए सिगरेटों के डिब्बे की ओर बढ गईं।

पूरबी हतप्रभ-सी उसे निहार रही थी। सोच नही पा रही थी कि क्या कहे, पर कहा, "अकारण ही फैसला कर लिया है या मुझे ही कारण नही बताओगे?···खैर, जाने दो। पर क्या यह सचमुच तुम्हारा निर्णय है?"

"निर्णय ही नही, अतिम निर्णय।"

"अतिम?" पूरबी से रहा नही गया।

"हां, एकदम अतिम जिसे कहते हैं, वही। यानी फाइनल डिसीजन।" होंठों के बीच सिगरेट फँसाने से पूर्व एक-एक शब्द पर जोर देते हुए शशांक ने कहा। कहा, जैसे वह अपने फ्लैट के ड्राइंग रूम मे पूरबी के समक्ष नही अपनी किसी नायिका के सम्मुख खड़ा हो—चेहरे पर अटल निश्चय के भाव लिये हुए। अपने हर अंतिम निर्णय पर वह हमेशा इसी प्रकार दृढ़

निश्चयी रहा है।

खिड़की की ओर से पीठ घुमाकर वह सिगरेट का धुआँ बाहर फेंकने लगा और न जाने कितनी देर तक फेंकता रहा। दूर कहीं सागर-तट से उन्मत्त लहरों की पछाड़ें खाने की आवाजें आ रही थीं। खिड़की के बाहर जहाँ तक दृष्टि जाती थी, स्वच्छ आकाश में तारे झिलमिला रहे थे। इसी तरह तारों-भरे आकाश को निहारते और सागर की पछाड़ें खाती लहरों का संगीत सुनते हुए वह एक-एक करके दो-तीन सिगरटें पी गया।

पूरवी इस बीच किचन में जाकर चाय का कप ले आई।

"लो, पहले गरम चाय पी लो, फिर शांत मन से बातें करेंगे।" कहते हुए उसने उत्तेजित शशांक की ओर कप बढ़ा दिया। स्वयं एक कप लेकर वह सोफे पर बैठ गई।

शशांक ने एक झटके से सिगरेट बाहर फेंकने के लिए हाथ उठाया, फिर सहसा जैसे कुछ याद आ गया हो, एक कश लेकर बची हुई सिगरेट को उसने ऐश-ट्रे में रगड़ दिया। अब डाइनिंग टेबल पर से चाय का कप उठाकर वह खिड़की के सीकचों की तरफ पीठ करके खड़े-खड़े चाय पीने लगा। इस तरह नाटकीय ढंग से चाय पीने की उसकी आदत से पूरवी पूर्व परिचित थी।

पहले रंगमंच और फिर फिल्म दोनों ने उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में एक विचित्र नाटकीयता भर दी थी। कभी-कभी स्वयं शशांक को लगने लगता था कि रंगमंच और फिल्म की दुनिया उसकी नस-नस में इस कदर घुलमिल गई है कि उसकी अपनी अलग पहचान कहीं अनजाने ही खो गई है। वह अनेक पात्रों का मिला-जुला संस्करण बनकर रह गया था। कभी निर्मम पुलिस इन्स्पेक्टर, कभी भावना-रहित न्यायाधीश, कभी धुत शराबी, कभी नायक का ऐसा दुश्मन जिस पर दर्शक मुग्ध हो जाते···और न जाने कितनी देखी-अनदेखी, जानी-अनजानी भूमिकाओं का स्वामी।

पूरवी उसे गौर से निहार रही थी। वह अप्रत्याशित तेजी से चाय खत्म कर रहा था और उसके चेहरे पर एक के बाद एक भाव आ-जा रहे थे, आकाश में तेजी से उड़ते बादलों की भाँति। उत्तेजना से लेकर निरीहता तक सब कुछ चन्द मिनटों में ही उसके चेहरे पर अंकित हो गई थी। अपने

में ही खोया हुआ वह कमरे के आकाश को निहारता हुआ मानो स्वगत कथन करने लगा था, "कारण पूछती हो तुम ? क्या हर चीज का कारण होता है ? कुछ बातें अकारण नही होती क्या ? बिना किसी वजह के··· मेरे रगमच की दुनिया मे न लौटने के निर्णय के पीछे क्या कोई कारण होना जरूरी है ? अकारण, बिना वजह नही ले सकता क्या मैं यह निर्णय ?"

एक और सिगरेट सुलगा ली शशांक ने।

पूरबी की चाय अभी खत्म नही हुई थी।

सिगरेट के कश लेते हुए शशांक कमरे के एक छोर से दूसरे छोर तक तेज कदमो से चक्कर लगाने लगा, मानो वह बेहद उत्तेजना और तनाव के क्षणों मे मच पर इधर से उधर चल रहा हो। कही अन्दर ही अन्दर बेहद क्षुब्ध था वह। अभी कुछ देर पहले सारी दुनिया को ध्वस्त कर देने की इच्छा उसके अन्दर करवटे लेने लगी थी। अजीब बेचैनी महसूस की थी उसने उन क्षणों मे। बेचैनी से भी अधिक छटपटाहट।

पूरबी जानती थी पिछले कुछ वर्षों से वह फिल्मों में व्यस्त रहने लगा था, लेकिन फिल्मों की दुनिया मे उसे चैन नही मिलता था। रंगमच उसके लिए नशा था, बल्कि नशे से भी कुछ अधिक—जीवन का एक अनिवार्य अंग। नशे से व्यक्ति कभी-कभी छुटकारा पा लेता है, पर पूरबी को लगता था, शशाक रगमच से कभी अपने को अलग नही कर सकता।

स्वयं शशांक महसूस करता था कि वह रगमच की दुनिया से दूर भले ही चला जाए, पर उससे हट नही सकता।

लेकिन उसकी अपनी ही धारणा सिर्फ एक आघात मे ध्वस्त हो गई थी। रंगमंच से अपने को कभी अलग न कर पाने का अहसास अब उसके लिए निरर्थक हुआ जा रहा था—निरर्थक। अर्थहीन। बेमानी।

"जिसके कोई माने ही न हो, जो निरर्थक हो, अर्थहीन हो, उसके पीछे कारण तलाशने का क्या मतलब ?" कई क्षण बाद उसके होंठो से शब्द फूटे।

पूरबी ने चाय की अंतिम घूंट ली और कप-प्लेट मेज पर रखते हुए कहा, "कारण तो हर चीज का होता है। अकारण इस दुनिया मे कुछ नही होता। जो निरर्थक है, अर्थहीन है, बेमानी है, उसके निरर्थक, अर्थहीन

और बेमानी होने या हो जाने के पीछे भी कोई कारण तो होगा ही…"

"हाँ, निश्चय ही होगा ।" मानो परास्त होते हुए शशांक ने उत्तर दिया, "मानता हूँ, कुछ भी अकारण नहीं दुनिया मे, मेरा वर्षों तक रंगमच से जुड़े रहना, फिल्मो मे रहते हुए भी रगमच के लिए कुछ न कुछ करते रहना या चाहो तो कह सकती हो, न करते हुए भी उसके लिए सोचते रहना, उसके प्रति निरंतर एक अनुराग महसूस करना और…और फिर एक झटके से मंच की दुनिया से विमुख हो जाने का निर्णय कर लेना… इन सबके पीछे कोई कारण तो होगा ही।" कहते हुए शशांक आहिस्ता-आहिस्ता पूरबी के सोफे के ठीक पीछे आकर खड़ा हो गया—उसके दोनों कंधों पर हाथ टिकाये हुए।

पूरबी ने नजरें ऊपर उठा, मुस्कराते हुए उसकी ओर निहारा। आक्रोश धीरे-धीरे तिरोहित हो गया था। उत्तेजना कम हो गई थी। लेकिन वेदना की रेखाएँ उसके चेहरे पर उमड़ आई थी। और वह अपने फ्लैट के ड्राइंग-रूम मे उपस्थित होकर भी मानो अनुपस्थित था। मानो अब भी वह नगर के प्रख्यात 'शाकुतलम् थियेटर' में ही था।

सागर की एक के ऊपर एक आती लहरें।

ठीक इसी तरह पर्त-दर-पर्त 'शाकुंतलम् थियेटर' के साथ जुड़ी अनेक स्मृतियाँ।

'शाकुंतलम्' केवल एक थियेटर नही था, पूरा का पूरा एक 'कॉम्प्लैक्स' था, जहाँ मच-कलाकार आकर केवल नाट्य कृतियाँ ही प्रस्तुत नही करते थे, बल्कि रात-दिन इस थियेटर के विभिन्न कक्षो मे नाटको की रिहर्सल भी करते थे। यहीं अनेक नाटको में शशांक की नायिका बनते-बनते पूरबी उसके जीवन की ही नायिका बन गई थी। दोनों के एक जैसे सपने थे, एक जैसे दुनिया थी। दोनो के व्यक्तित्व रंगमंच को समर्पित थे। लेकिन विवाह के बाद पूरबी ने अपने को घर की दुनिया मे ही समेट कर रख लिया था। यह शायद उसकी पराजय थी, एक लम्बी, अन्तहीन दौड़ मे भाग पाने में असमर्थता। या शायद उसने अपना सब कुछ शशांक को समर्पित कर दिया था— अपनी प्रतिभा, अपना समय और अपना तन-मन

सब कुछ। शशांक को शुरू में उसका यह व्यवहार विचित्र-सा लगा था, परम्परागत भारतीय नारी जैसा, लेकिन धीरे-धीरे उसके स्वार्थी मन ने पूरवी के इस सहज समर्पण को स्वीकार कर लिया था और वह स्वय आगे बढ़ता चला गया था—बैंक की नौकरी से पूरी तरह मुक्ति लेकर 'शाकुंतलम् थियेटर' का स्थायी कलाकार और फिर 'शाकुंतलम्' के मंच से फिल्म की दुनिया में प्रस्थान।

दस साल की लम्बी यात्रा-कथा थी यह। कठिनाइयाँ आई थीं, तो सफलताएँ भी कदमों को चूमने लगी थीं। दुख के पल थे तो सुख की घड़ियाँ भी आई थीं। पहली फिल्म के हिट होने के साथ ही 'शाकुंतलम् थियेटर' के सीमित ससार से एकाएक राष्ट्रीय ख्याति का कलाकार हो गया था वह, जिसके साथ ही उसके हिस्से में आ गई थी फिल्मी दुनिया की चकाचौंध, जहाँ थे अनुबन्धों के ढेर, दौलत, रात-रात-भर चलने वाली नशे में डूबी पार्टियाँ, गर्म साँसों के अहसास, नर्म बाँहों के कभी कसते और कभी ढीले होते हुए दायरे···एक अनोखी दुनिया जो टिकट-खिड़की की वास्तविकता से जुड़ी होकर भी यथार्थ से कटी थी, जो असली होकर भी निहायत नकली थी।

लेकिन इस दुनिया में पहुँचकर भी शशांक ने 'शाकुंतलम्' को भुलाया न था। वहाँ जाना कम अवश्य हो गया था, पर वह 'शाकुंतलम्' से एकदम कट नहीं गया था।

एक दिन पूरवी ने कहा था, "थियेटर की दुनिया से अब कब तक व्यर्थ ही जुड़े रहोगे! दर्शकों के सीमित दायरे का मोह छोड़ो भी। देखो जरा, फिल्म के पर्दे में कितनी अपार सम्भावनाएँ है।"

तब यकबयक गम्भीर हो उठा था शशांक और फिर एक लम्बी साँस लेते हुए उसने उत्तर दिया था, "थियेटर···वहाँ मेरे मन-प्राण बसते हैं। यहाँ फिल्मी दुनिया में पैसा है, शोहरत भी है, और भी न जाने क्या-क्या है। लेकिन दर्शक? जैसे कोई अमूर्त भीड़ हो। शहरों, कस्बों, गाँवों मे बिखरी हुई भीड़। भीड़···एकदम पास होते हुए भी बहुत दूर—अनदेखी-अनजानी। वहाँ थियेटर की दुनिया मे, जिसे तुम सीमित दायरा कहती हो, दर्शकों से सीधा संवाद है, मानो रू-ब-रू खड़े होकर बातचीत की जा रही

हो।"

लेकिन यह सब शुरू-शुरू की बातें हैं, जब फिल्मी दुनिया में गया ही था वह। तब 'शाकुतलम्' की ओर जाने का वक्त मिल जाता था। तब उसने एक पैर फिल्मों के स्टूडियोज में रखने के बावजूद दूसरा पाँव 'शाकुतलम्' से हटाया नहीं था। गाहे-ब-गाहे वह नाटकों में अभिनय करता रहता था।

लेकिन धीरे-धीरे फिल्मों में शशांक की व्यस्तता बढ़ती गई। और धीरे-धीरे 'शाकुतलम्' उससे छूटता गया।

और जिस हद तक 'शाकुतलम्' उससे छूटता गया, उसी सीमा तक वह अन्दर ही अन्दर टूटता भी गया।

और टूटते जाने के बावजूद कला की इस नई दुनिया में प्रवेश पाकर वह प्रसन्न था। यहाँ एक ही फिल्म इतना कुछ दे जाती थी जितना आजीवन बीसियों नाटक नहीं दे सकते थे।

और धीरे-धीरे उसने फिल्मी दुनिया में अपनी जड़ें गहरी जमा कर स्वयं को स्थापित कर लिया था। पर सचमुच कहीं मन के किसी कोने में कसक जरूर बाकी थी। एक मोह था मंच के प्रति जो मौके-बेमौके सालता और कुरेदता रहता था। इस मोह को वह एक किनारे झटककर फेंक देना चाहता था। लेकिन जैसे ही ऐसी कोई कोशिश शुरू होती, एकाएक फोन की घंटी बजने लगती और फिर देर तक वह पारिजात दा की फटकार सुनता रहता। फोन पर उनकी आवाज़ सुनकर ही वह बेतरह छटपटाने लगता—पंखहीन पंछी की भाँति।

लेकिन इन फटकारों का सिलसिला धीरे-धीरे खत्म होने लगा। धीरे-धीरे पारिजात दा ने उसे फोन करना छोड़ दिया। वह दो-दो, तीन-तीन शिफ्टों में व्यस्त रहने लगा। पारिजात दा अब केवल पूरबी को फोन करते, "शशांक को समझाओ। ठीक है कि रोटी के लिए वह फिल्में करे, लेकिन शशांक की जड़ें तो दरअसल यहाँ रंगमंच में ही हैं।"

जिस पूरबी ने कभी उससे कहा था कि दर्शकों के सीमित दायरे का मोह छोड़ दो, वही उसे समझाती, पारिजात दा का संदेश देती।

और शशांक समझना भी चाहता, समझ भी जाता, लेकिन बम्बई

से मद्रास,मद्रास से कलकत्ता, कलकत्ता से बम्बई रात-दिन फिल्मों की शूटिंग, प्रीमियर, भागमभाग अब उसके जीवन की विवशता बन गई थी।

ऐसे ही एक दिन पूरवी के समझाने पर उसने उदास मन से कहा था, "बहुत देर हो चुकी है अब। एक ऐसे दुश्चक्र मे फँस चुका हूँ मैं, जहाँ से निकलना चाहकर भी नही निकल सकता हूँ।"

"सोने के पिंजडे की कैद बड़ी आकर्षक होती है," शशांक तब होठो पर व्यग्यपूर्ण मुस्कान लाते हुए पूरबी ने कहा था, "ऐसे पिंजड़े का दरवाजा चाहे खोल ही क्यों न दिया जाए और चाहे इस पिंजडे मे बैठे हुए पक्षी के पर कितने ही बडे क्यों न हों, स्वयं पक्षी की ही इच्छा इस कैद से मुक्ति पाने की नहीं होती क्यों है न ?"

शशाक ने भी व्यंग्यपूर्ण अंदाज मे ही उत्तर दिया था, "तुम्ही तो कहती थी फिल्म के पर्दे में कितनी अपार सभावनाएँ है। तब मैने चाहा था, इस बंधन को एक ही झटके मे तोड दूँ, पर तुमने तब तर्क दिया था, दर्शकों के सीमित दायरे का मोह छोड़ दो।···और अब जब मैं उस मोह को बहुत पीछे छोड आया हूँ, तुम चाहती हो···"

पूरबी आगे न सुन सकी।

और धीरे-धीरे पारिजात दा ने पूरबी को फोन करना भी छोड़ दिया। धीरे-धीरे उन्होंने इस सच्चाई को मौन स्वीकृति दे दी कि उनकी नाटक-मडली का एक अत्यन्त प्रतिभाशाली सदस्य उनसे छूट गया है।

लेकिन शायद शशांक को पारिजात दा के इस अहसास का आभास तक न था। आभास हो न हो, पर अब उसे रगमंच का प्रकाश स्टूडियोज की तेज रोशनी के आगे एकदम पीला और फीका लगने लगा था। रंगमंच की दुनिया फिल्म की दुनिया के आगे उदास, बीमार साँझ-सी महसूस होने लगी थी।

शशाक को जो भी महसूस होता हो, लेकिन पारिजात दा कभी-कभी एक अजीब-सी कल्पना में डूब जाते थे। उन्हे कभी-कभी लगता था, शशाक उनके समक्ष आ खडा हुआ है···शुरू-शुरू के दिनों की भाँति हाथ जोडे, नतमस्तक···और फिर ड्रामा के रिहर्सल मे जुट गया है।

और सचमुच ऐसा ही तो हुआ एक दिन। ठीक-ठीक ऐसा तो नही,

किन्तु काफी हद तक ऐसा ही। सहसा पारिजात दा के फोन की घंटी बजी। फोन उठाने पर उन्हे सुनाई दिया, "पहचाना आपने, पारिजात दा?"

"नही।"

एक ठहाका और फिर वही आवाज, "नही पहचाना? सचमुच नही?"

एक क्षण की चुप्पी। फिर पारिजात दा का उत्तर, "कुछ-कुछ पहचानी-सी आवाज लगती है, किन्तु···"

फिर वही हँसी, "पहेलियाँ नही बुझाऊँगा। वह मेरी आदत नही। नहीं पहचाना, तो मैं ही बता दूँ···मैं हूँ आपका शशांक।"

एक गहन चुप्पी दोनों ओर से!

पारिजात दा हतप्रभ। उनके मुख से कुछ भी शब्द न निकल पाये। नाटकों के पूर्वाभ्यास मे बड़े से बड़े कलाकार को डाँट देने वाले, एक बार बोलना शुरू करके धाराप्रवाह बोलते चले जाने वाले पारिजात दा उन क्षणों में कुछ भी न बोल सके। कभी उन्होंने तय किया था, 'शशांक का फोन आया तो कोई उत्तर न दूंगा। कभी सड़क चलते भेंट हो गई तो मुँह मोड़ लूंगा···' इस समय भी वह चुप थे, लेकिन यह चुप्पी दूसरी तरह की थी। इस समय भी उन्होंने कोई उत्तर न दिया, लेकिन यह उत्तर न देने के सकल्प का परिणाम नही था, हतप्रभ होने की स्थिति की स्वाभाविक परिणति थी।

आखिर बात आगे शशांक ने ही बढ़ाई, "जानता था, कभी फोन करूँगा तो पहचानेंगे नही। चद वर्षों के अंतराल में ही अपने शशांक को भूल चुक होंगे। लेकिन मैं? मैं नही भूला हूँ आपको···"

"शशांक!" इतनी देर बाद केवल इतना ही कह सके पारिजात दा उन अविस्मरणीय क्षणों में। फिर मानो एक ठंडी साँस लेते हुए उन्होंने व्यंग के अंदाज में कहा, "इतने वर्षों बाद याद आई इस बूढे की?"

पारिजात दा के व्यग्य मे कुछ ऐसा विषाद था कि शशांक सहसा तड़प उठा। रंगमंच के वयोवृद्ध निर्देशक और कलाकार पारिजात दा ने अपने एक ही वाक्य से कही गहराई तक उसके मर्म पर आघात कर दिया था।

उत्तर शशांक को देना था, लेकिन वह उत्तर दे इसके पहले ही

पारिजात दा ने पूछ लिया, "कैसे याद किया आज अचानक ? क्या मेरे लिए भी फिल्म का कोई ऑफर···"

क्या बताता शशांक कि कैसे याद किया ? याद करने के कारण का तो शायद पारिजात दा को भी आभास न होगा। आखिर उससे रहा न गया, "आज से ठीक दो महीने बाद चार अक्तूबर को आपके रंगमंच-जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे होने को है। हैं न ? शायद आपको तो स्मरण भी न होगा, पर मुझे याद है भली भांति। आपने ही बताई थी रंगमंच मे अपने प्रवेश की यह तिथि···"

पारिजात दा सहसा बहुत दूर, बहुत पीछे की दुनिया में खो गए।

वे उनकी युवावस्था के दिन थे। आकर्षक चेहरा, भव्य व्यक्तित्व। अपने इस व्यक्तित्व को लेकर रंगमंच में प्रवेश करने के साथ वे नाटकों की दुनिया मे बेतहाशा छा गए थे। और फिर न जाने कितनी भूमिकायें की थी उन्होंने मंच पर अपने व्यक्तित्व को भुलाकर पात्रो के व्यक्तित्व मे ढालते हुए। और फिर वह धीरे-धीरे अभिनेता से निर्देशक बन गए थे और तभी उनकी मंडली में आया था शशांक, जिसे वे अपने यौवन की अनुभूति कहते थे। शशांक से कितनी-कितनी आशाएँ थी उन्हें, लेकिन···"

और इस लेकिन के आगे वे कुछ भी नही सोच गए। अन्य अनेक रंग-मंच कलाकारो की भांति शशांक भी थियेटर को छोड़ फिल्मो की दुनिया मे भटक गया था—भीड मे खोये हुए आदमी की तरह। पारिजात दा को कभी-कभी लगता, इस थियेटर की दुनिया की नियति यही है। जो यहाँ आता है, उसकी नजरें मानो फिल्म के पर्दे पर ही टिकी होती है। थियेटर उसके लिए चकाचौंध भरी उस दुनिया में पहुँचने की महज एक सीढ़ी है। पारिजात दा सोचते, शशांक ने भी थियेटर को सीढ़ी से ज्यादा अहमियत कभी नही दी है। हालांकि फिल्मों मे शशांक चरित्र-अभिनेता से बड़ा कलाकार कभी नही बन पाया था, लेकिन शहरों, कस्बों, गाँवों में दूर-दराज तक उसे पहचाना जरूर जाने लगा था। और उसकी यह अलग पहचान पहली फिल्म से ही हो गई थी। केवल अलग पहचान ही नही बनाई थी उसने, बल्कि चरित्र-अभिनेता होने के बावजूद बेशुमार धन भी जुटा लिया था। और परिजात दा ?···उसके कलागुरु पारिजात दा के हिस्से

क्या आया था? वही मामूली, निहायत मामूली जिन्दगी, जहाँ पच्चीस साल के रंगमंच जीवन के बाद भी उनके नसीब में लोकल ट्रेनों और बसों का सफ़र ही बदा था।

लोकल ट्रेनों और बसों में धक्के खाते-खाते ही वे बूढ़े हो गए थे।

और इन्हीं बूढ़े, वयोवृद्ध पारिजात दा से फोनपर कह रहा था बेशुमार दौलत का स्वामी शशांक, "आपके रंगमंच जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे होने के अवसर पर 'शाकुंतलम्' में आपका वही पुराना नाटक खेला जाना चाहिए जिसमें आपके साथ मैंने भी अभिनय किया था···"

पारिजात दा के सम्मुख सहसा फिर उन दिनों की यादें लौट आयीं। शशांक का उन दिनों का चेहरा भी उभर उठा। लेकिन तभी उन्होंने बहुत सँभल कर, एक-एक शब्द पर जोर देते हुए पूछा, "तुम्हारी जगह कौन काम करेगा उस नाटक मे?"

शशांक ने इस प्रश्न की कल्पना भी न की थी। उसकी समझ में नहीं आया कि आखिर पारिजात दा ने यह प्रश्न क्यों किया? प्रश्न का उत्तर पारिजात दा ने दिया, "शायद तुम भूल गए होगे, नाटकों में लम्बे रिहर्सल की जरूरत होती है। दिन-रात खपाने पड़ते है। उतने में तो तुम अनेक फिल्मों की कई-कई शिफ्टें कर लोगे और लाखों नहीं तो हजारों कमा ही लोगे···"

शशांक की समझ में नहीं आया कि क्या कहे? क्या उत्तर दे वह पारिजात दा को?

कहना चाहा उसने कि मैं तैयार हूँ अपनी अनेक फिल्मों की कई-कई शिफ्टें छोड़ने के लिए, तैयार हूँ दिन-रात खपाने के लिए, लेकिन कह नहीं सका। जानता था शशांक कि ऐसा कहने पर पारिजात दा जोरों से ठहाका लगाते हुए व्यंग्य करेंगे, "रंगमंच की दुनिया से तुम्हारा क्या वास्ता। रंग-मंच-कलाकार शशांक तो कब का मर चुका, अब तो जिस शशांक का नाम हम लोग रंगीन पोस्टरों पर लिखा देखते हैं, वह केवल फिल्मी-कलाकार है और मुझे खुशी है कि उस शशांक ने एक साथ ढेर सारी फिल्मों मे काम करने के बावजूद अपने अभिनय का एक स्तर बनाए रखा है···"

जानता था शशांक, यही कहेंगे पारिजात दा। लेकिन वह ऐसा कहने

का मौका देना नहीं चाहता था उन्हें, इसलिए उसने कहा, "फिल्मों की दुनिया अपनी जगह है, पारिजात दा। और वहाँ मैं हूँ, कई-कई शिफ्टें करता हूँ, थोड़ा-बहुत पैसा भी कमाया है वहाँ मैंने। लेकिन मैं यह नहीं भूला हूँ कि आप मेरे कलागुरु हैं और आज जो कुछ भी मैं हूँ वह आपके आशीर्वाद से। मेरी तरह अनेक कलाकार आपकी देन हैं जो रंगमंच की दुनिया मे भाग आए हैं अपने कलागुरु को अकेला छोड़ कर। पिछले पच्चीस वर्षों मे मेरी तरह न जाने कितनों को आपने कलाकार बनाया। उन सब की बात तो मैं नहीं जानता, पर अपनी अवश्य जानता हूँ। अपने नाट्य जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे होने के अवसर पर आप के ही साथ उस पुराने नाटक मे काम करके उऋण हो जाना चाहता हूँ, ऐसा तो नहीं कहूँगा। ऐसा कहना धृष्टता होगी। उऋण भला कौन हो सकता है। पर इस बहाने फिल्मों की इस दुनिया से रंगमंच की दुनिया मे लौट आना अवश्य चाहता हूँ···"

शशांक ने बहुत शान्त भाव से कहा यह सब।

पारिजात दा को जैसे विश्वास न हुआ। हतप्रभ रह गए। मन ही मन बुदबुदाए, "तुम कह रहे हो शशांक ऐसा! सोच-समझ कर कह रहे हो या इस बूढ़े को यह स्मरण कराना चाहते हो कि देखो, तुम्हे पच्चीस साल रंगमंच की दुनिया में हो गए, पर अब भी चप्पलें ही घिस रहे हो। हाँ शशांक, ठीक स्मरण कराया तुमने। तुम्हारी उपलब्धियाँ अनन्त है···कार, फ्लैट, बेशुमार दौलत, और भी न जाने क्या-क्या।"

पारिजात दा केवल मन ही मन बुदबुदाते रहे। न जाने कब उन्होंने फोन रख दिया।

दुबारा फोन की घंटी नहीं बजी।

पारिजात दा के पुराने नाटक का प्रदर्शन अकेले शशांक के परिश्रम का परिणाम था। 'शाकुंतलम्' के विशाल मंच पर इस नाटक को देखने के लिए उभरते हुए फिल्म अभिनेता अभिषेक को भी निमंत्रण किया था शशांक ने। यह प्रचारित किया जा चुका था कि पारिजात दा के रंगमंच जीवन के पच्चीस वर्ष पूरे होने के अवसर पर यह नाटक खेला जा रहा

है। लेकिन शशांक ने यह घोषणा एकदम गोपनीय रखी थी कि उसने अब फिल्मों मे काम करना छोडने का निश्चय कर लिया है।

नाटक खेला गया। ढाई घटे दर्शक निस्पंद, मौन, अपलक बैठे रहे। पारिजात दा और शशाक दोनो ने ही अपने अभिनय से पात्रों में जीवन भर दिया था। जिन्होंने वर्षों पूर्व यह नाटक देखा था, वे पारिजात दा को इस बार की प्रस्तुति मे बदले हुए चरित्र मे देख रहे थे। वर्षों पूर्व पारिजात दा ने जो भूमिका अभिनीत की थी, वह इस बार शशाक ने निभाई। और जो भूमिका उस प्रस्तुति मे शशांक की थी, वह अब पारिजात दा ने की थी। एक बार फिर पारिजात दा ने अपने अभिनय से दर्शकों को मुग्ध कर दिया।

तालियों की गड़गडाहट के साथ नाटक समाप्त हुआ और प्रेक्षागृह की बत्तियाँ जल उठीं। पारिजात दा जब दर्शकों के समक्ष आए तो एक बार फिर तालियाँ बजीं—कई मिनट तक, लगातार। और तालियों का शोर समाप्त होने के साथ ही फिल्म अभिनेता अभिषेक पारिजात दा को बधाई देने के लिए आगे बढा।

तभी मानो हादसा हो गया! अभिषेक के आगे बढ़ने के साथ ही युवक-युवतियों की भीड टूट पड़ी। पारिजात दा को बधाई देने के लिए नही, बल्कि अभिषेक को अपने बीच पाकर उसे और निकट से देखने और उसके ऑटोग्राफ लेने के लिए।

शशाक स्तब्ध रह गया। क्या हो गया यह, उसकी समझ मे ही न आया। भीड ने रगमंच के वयोवृद्ध और प्रख्यात कलाकर पारिजात दा को मानो एक तरफ धकेल कर क्षण-भर में ही अभिषेक को घेर लिया था। न जाने कैसे सहसा कई हाथ ऑटोग्राफ-बुक के लिए अभिषेक के आगे आ गए। शशाक दूर से ही यह दृश्य देख रहा था। शायद कुछ देर बाद उसे भी इसी पागल भीड़ का सामना करना पडे। शायद पारिजात दा एक बार फिर इसी तरह एक किनारे ढकेल दिये जायें। इस कल्पना से ही उसका सिर झन्ना उठा। क्षण-भर वह हतप्रभ रह गया और फिर क्रोध से सहसा उसकी त्यौरियाँ चढ गईं। कनपटी लाल हो गई। आँखों से मानो लपटें निकलने लगीं। इच्छा हुई, जिस मच पर उसने अभी पारिजात दा के साथ

नाटक प्रस्तुत किया था, उस पर बम फेंक दे और एक ही धमाके में मंच के, पर्दों के, सेटों, डिमर, रोशनी, माइक आदि सभी के परखचे उड जायें। सारी चीजें हवा में चिथडा-चिथडा होकर उड़ने लगें। दर्शकों की जगह लाशों के ढेर लग जायें और वह इन लाशो के बीच विजेता नायक की भाँति खडा होकर इतनी जोर का ठहाका लगाए कि सारा महानगर काँप उठे।

लेकिन तब उत्तेजना के उन चरम क्षणों मे, उसने किसी प्रकार अपने को नियंत्रित किया। पागलपन के उस दौर से किसी तरह मुक्ति पाई। और भीड के बीच आये बिना, थियेटर के पीछे के द्वार से चुपचाप निकल कर वह अपनी कार तक आ गया। चाबी घुमा कर कार का दरवाजा उसने एक झटके से खोला और कार को स्टार्ट कर इतनी तेज रफ्तार से अपने फ्लैट पर पहुँचा कि अब सम्पूर्ण स्थिति की कल्पना करके ही उसके सारे शरीर मे कँपकँपी दौड़ गई। क्षुब्ध और उत्तेजित मन से क्षण-भर मे ही उसने पूरबी को अपना निर्णय सुना दिया, "नहीं, कभी नही, अब कभी रगमंच की दुनिया में वापस नही लौटूँगा···"

और इसके साथ ही पूरबी की ओर से शुरू हो गया प्रश्नो का लम्बा सिलसिला।

प्रश्नो के तरतीब-बेतरतीब उत्तर देते हुए शशांक के सम्मुख बार-बार वही 'शाकुंतलम्' वाला दृश्य उभर आता था और बार-बार सब कुछ तोड़-फोड़ देने, बम के धमाके से सब कुछ नष्ट कर देने की इच्छा उसके अन्दर जाग पड़ती थी। बार-बार वह सोचने लगता—जब एकदम नए फिल्म अभिनेता को हमारे दर्शक प्रथम श्रेणी के रंगमंच कलाकार से ज्यादा महत्त्व देते है तो रगमंच की दुनिया मे वापस क्यों लौटूँ? किसके लिए लौटूँ? क्या पारिजात दा की तरह अपमानित और तिरस्कृत होने के लिए लौटूँ? नही, कभी नही लौटूँगा।

"कभी नही लौटूँगा।" उसने जोर देकर एक बार फिर पूरबी के आगे अपना निश्चय दुहराया।

पूरबी की समझ मे नही आया कि वह आगे क्या कहे, क्या न कहे। सहसा गुमसुम-सी होकर मानो वह अपने से ही पूछने लगी, 'यह सचमुच शशांक का अंतिम निर्णय है या इस क्षण भी वह अभिनय कर रहा है?'

वदलना

दो बजते-बजते खबर फैल गई।

किसी को न्योता-निमन्त्रण नही देना पड़ा। मोहल्ले की औरतें अनायास एक स्थान पर जुट गईं। एक ने घिसा-पिटा वाक्य दुहराया, "मुझे तो पहले ही पता था, लड़की के रंग-ढंग ठीक नही।"

दूसरी ने हाथ नचाते हुए राज की बात बताई, "जिस दिन इसके बाप ने लड़के वालों की बात टाली, मैं तो उसी दिन समझ गई थी कि…"

तीसरी ने समर्थन किया, "और क्या…हाथ आई चीज कौन गँवाता है! फिर शादी-विवाह का मामला।"

चौथी ने सिर हिलाया, "चलो अच्छा हुआ। अब पता चल गई बिटिया रानी की चाल-ढाल…"

पाँचवी हँसी, "और नही तो क्या! बड़ा घमंड था लड़की पर।"

और देर तक प्रसंग चलता रहा। औरतें हाथ नचा-नचा कर, हँस-हँस कर बातें करती रहीं। बहुत दिनों बाद उन्हें अपने प्रिय विषय पर चर्चा करने का सुअवसर मिला था। सबके चेहरों पर अद्भुत चमक थी, विचित्र उल्लास था। फिर जब मर्दों के आने का समय हुआ तो सब एक-एक कर अपने-अपने घर चली गईं।

सबने अपने-अपने मर्दों से कहा।

हाथ-मुँह धो, एक-एक कप चाय पीकर शाम के धुंधलके मे हर मर्द दूसरे मर्द के पास गया। मोहल्ले के बिजली के खम्भे का बल्ब जलते-जलते एक-एक कर सब इकट्ठे हो गए। सामूहिक चर्चा का दौर चल पड़ा।

एक ने घिसा-पिटा वाक्य दुहराया, "धरम-करम तो रह ही नही गया इस कलियुग मे। एक हमारा भी जमाना था…"

और वह पिछले जमाने की याद मे खो गया, जब घरों मे बिजली के बजाय तेल की कुप्पियाँ जला करती थी, और जब मोहल्ले मे बिजली का बल्व नही, लैम्पपोस्ट था जिसमे म्यूनिसिपैलिटी का कोई कर्मचारी आकर सप्ताह मे एक बार झाड-फूंक कर मिट्टी तेल डाल जाया करता था।

दूसरे ने कहा, "अजी साहब, एक यह भी जमाना है जब लड़कियाँ दूसरों की कमर में हाथ डाले माँ-बाप के सामने सीना तानकर निकल जाती हैं।"

उस छोटे से नगर मे आई आधुनिकता के बढा-चढ़ा कर पेश किये गये चित्र का विश्लेषण किया जाने लगा।

एक बोला, "अजी जनाब, यह साली माडर्न एजुकेशन का नतीजा है। औरत जात जब घर-गृहस्थी के बजाय किताब-कापियों मे उलझ जाती है तब ऐसा ही होता है।"

जिनकी लड़कियाँ स्कूल-कालेजों में पढ रही थी, वे इन वाक्यों से जरा साँसत मे पड़ गए।

"और क्या!" कहते हुए किसी दूसरे ने शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन उचकाई, "लड़कियों को इतनी आजादी दे रखी है, इसी ने सब सत्यानास कर दिया···"

कोई और बोला, "अरे साहब, लड़के-लडकियाँ भी तो अपने मन की करने लगे···"

"तो क्या बाँध कर रखें उन्हें?" किसी ने खीझ कर कहा।

अंतर्विरोध उभरने की सम्भावना पैदा हो गई।

इसी बीच किसी की आवाज आई, "असल बात तो, भैया वही है एजुकेशन, यानी को-एजुकेशन। न को-एजुकेशन होती, न छोकरियाँ इस तरह इण्टरकास्ट मैरेज करती।"

नदी-नाले में बहते पानी की तरह बात ने एक निश्चित रास्ता पकड़ लिया। सब एकमत थे कि जमाना खराब आ रहा है। इससे बच के रहना होगा। बहू-बेटियों को भी बचाना होगा। इस एक खबर ने सबको हिला दिया था। अभी तक तो सिर्फ सुना ही था, अब मोहल्ले मे पहली बार प्रत्यक्ष देख भी लिया। उन्हें लगा, मोहल्ले की इज्जत सरेआम लुट गई।

बात इतनी-सी थी कि उर्मिला ने अपने मन से दूसरी जात में शादी कर ली थी।

सबके देखते-देखते यह सब हो गया। कोई नहीं रोक सका।

किसे पता था, उर्मिला एक दिन ऐसा करेगी। लेकिन यह सब हो गया।

अभी कुछ ही दिन पहले कुमार से उसकी शादी तय हुई थी। सब बातें पक्की हो गई थीं।

उर्मिला को रोना आ गया था। अपने से ही कहा था उसने, "आखिर घर वालों के लिए इतनी भार क्यों हो गई हूँ ?"

दूसरे कमरे से एक दिन माँ के शब्द कानों में टकराये थे, "अगर लड़का अच्छा है तो हम ना-नकुर क्यों करें। नाम से तो अच्छा ही मालूम पड़े है।"

उर्मिला चौंकी, "हाय राम ! लो, माँ नाम लेकर लड़का छाँटने लगी।" सहसा होठों पर एक शोख मुस्कान उभर आई। रात के एकान्त में माँ और पिताजी की बातें न जाने कब आरम्भ हुई थीं। उसका मन हुआ था, जाकर माँ से अभी मना कर दे। पर जा नहीं सकी थी।

एक दोपहर फिर माँ का स्वर सुनाई दिया था, "अच्छा, ये तो बताओ कि लड़का पढ़ा-लिखा कित्ता है? मूरख को तो हम अपनी छोरी देने के नई।"

पिताजी ने जैसे झुंझला कर उत्तर दिया था, "पढ़ाई से क्या होता है, पैसा तो कमाता है। अच्छे-अच्छे एम० ए०, बी० ए० पास लड़कों से बेहतर है..."

"अच्छा, तो हजरत बी० ए० भी नहीं हैं।" उर्मिला के मन ने कहा। वह न हँस सकी थी, न रो। इच्छा हुई थी जाकर कह दे, "पिताजी, पैसा तो चोर-उचक्के, तस्कर भी कमा लेते हैं।"

"दो-दो मकान हैं बाप के। माँ-बाप का इकलौता है। पक्की सरकारी नौकरी है। ऊपरी आमदनी है, सो अलग।"

"ओह, तो आप काफी स्मार्ट है। खाते-पीते भी हैं। बहुत अच्छे!"

उर्मिला के होंठों पर तीखी मुस्कान उभर आई थी।

माँ जैसे मुग्ध थी। बिना देखे ही प्रसन्न। बोली, "बस-बस, रिश्ता पक्का कर दो।"

सहसा उर्मिला के होंठों की मुस्कान गायब हो गई थी। वह अधिक नहीं सुन सकी थी। झुंझलाहट में उठकर कमरे से चले जाने का मन हुआ था, पर उठी नहीं थी। बस चुपचाप खाट पर लेट गई थी और छत की ओर निहारने लगी थी।

पिताजी के शब्द दीवारों को चीर कर कान में फिर आ टकराये थे, "बड़ा घर, सरकारी नौकरी, आदर-सम्मान सब-कुछ तो है···हाँ, बस थोड़ा-सा चक्कर उमर का है।"

"अजी छोड़ो उमर को।" माँ ने पिताजी के संशय को समाप्त कर दिया था, "लड़का अच्छा है तो थोड़ी ज्यादा उमर से कोई फर्क नहीं पड़ता। और फिर तुम भी तो हमसे···" कहते-कहते वह इस बुढौती में भी लाज से सिमट गई थी।

लगा था, कोई गला घोट रहा है। 'मैं भी तो देखूँ ये हजरत कौन हैं?' जाकर माँ से इच्छा व्यक्त करनी चाही थी।

तभी अनिल गुप्ता आँखों के आगे आकर खड़े हो गए।

लड़के का इतना सब वर्णन करने के बाद पिताजी मानो डूबे हुए अन्दाज में कह रहे थे, "उसके चाचा ने तो हाँ कर दी, माँ-बाप चुप हैं, पर बड़े भाई दान-दहेज कुछ ज्यादा···इज्जतदार लोग है, सो कुछ नकद भी··· भई, बड़ा घर है न···"

'ओ माँ···' उर्मिला का मन हुआ था चीख पड़े, 'यह सब क्या है? पिताजी ये क्या कह रहे हैं?' सीने पर ढेर सारी चट्टानें गिर पड़ी थीं। आँखों के आगे लावा फट पड़ा था, "ओफ, ऐसी क्या भार हो गई हूँ?"

लगा बरात की भीड़ को चीरते हुए अनिल गुप्ता सामने आकर खड़े हो गए हैं।··

उर्मिला औंधी लेट गई थी। सिर पर जैसे किसी ने मन-मन भर के पत्थर पटक दिए हों। औंधी लेटे-लेटे गहरे सागर में डूबती जा रही थी। कौन समझाये पिताजी को? कौन कहे?

लेकिन दो दिन बाद उसने कह ही दिया।

और कहा तो सारे घर में हंगामा मच गया।

छोटी बहन प्रमिला ने देखा तो देखती रह गई। उससे पहले तो पिताजी कभी इत्ते नही बिगड़े थे दीदी पर। माँ ने बेहद नाराज होकर कहा था, "तू ये शादी नही करेगी। करेगी तो जहर खा लूंगी।"

उर्मिला का मन हुआ था, पलटकर जवाब दे, 'नही माँ, तुम जहर क्यों खाती हो, मुझे ही थोड़ा-सा दे दो न।' पर जवाब दे नही सकी थी। बस फफककर रो पडी थी, मानो बाँध टूट गया हो।

इसके बाद चौबीसो घण्टे घर में तनाव। माँ-पिताजी की लाड़ली बिटिया देखते-देखते जैसे उनकी सबसे बडी दुश्मन हो गई थी। 'किस जनम की दुश्मनी उतार रही हो, माँ?' उसने मन ही मन माँ से पूछा था। उत्तर बहुत खोजने पर भी नही मिला था। न माँ को अहसास हुआ था और न पिताजी को कि मोहल्ले में जहाँ मिट्टी तेल से जलने वाला लैम्पपोस्ट हुआ करता था, वहाँ कब का बिजली का खम्भा लग चुका है। एक दिन बड़ी बहन का खत आया था। बहुत समझाया था—"ऐसा मत करो। बुढ़ापे में पिताजी को दुख मत दो। माँ जहर खा लेंगी। मान जाओ, विवाह अपनी ही जात मे…"

पर मन नही माना था। बार-बार आँखों के आगे अनिल गुप्ता आकर खड़े हो जाते थे। बडा अजीब लगता, बड़ा विचित्र। पिताजी हर वक्त, हर समय बड़बड़ाते रहते। माँ हर समय झुंझलाती, "जाने कब मुंह काला होगा। पता नही किस जनम के पापो का प्रायश्चित करना पड रहा है…"

ओफ!…उर्मिला को लगता, पाप तो उसने किये हैं जो यह सब सुनने को मिल रहा है।

माँ बेहद चिड़चिडी हो गई थी। एकाएक आवेश मे आ जाती। कभी बेबात प्रमिला पर ही नाराज हो जाती। और पिताजी कभी किसी से ठीक से बात ही न करते। 'इत्ते अच्छे पिताजी इत्ती जल्दी बदल गए?' प्रमिला सोचती। घर का सारा वातावरण ही कुछ और हो गया था।

और एक दिन…

जो होना था, होकर ही रहा। उर्मिला न मानी। एक बार तय कर

लिया तो बस तय कर ही लिया। प्रमिला ने देखा, पिताजी तिलमिला उठे थे। कितने कातर थे वे उस दिन जब उन्हें स्वयं जाकर कुमार के घर वालों से मना करना पड़ा था।

कुमार से शादी नहीं हुई।

शादी हुई अनिल गुप्ता से।

मोहल्ले मे धीरे-धीरे बात फैल गई, जैसे हल्के-हल्के फूस मे आग सुलग उठी हो। पिताजी की बूढ़ी आंखो के आगे एकदम अंधेरा छा गया। घर से बाहर जाना बन्द। मां ने जैसे मौन साध लिया। उन्हे सब कुछ सूना और उदास लगता। खाट पर हर समय चित लेटी रहती आंखे बन्द किये हुए। समय ने जैसे उनके साथ कोई बड़ा छल किया था।

बाहर की दुनिया से सम्पर्क-सूत्र अब केवल प्रमिला ही थी। हैरान थी वह। समझाए तो किसे समझाए ? और क्या समझाए ? कभी दीदी पर भी गुस्सा आता। पर तभी बैठक की दीवार से लगी घड़ी पर नजर पड़ जाती जिसकी सूई समय के साथ निरन्तर आगे बढ़ती रहती थी। कभी स्टूल पर चढ़कर पिताजी ही उसे पीछे करने की कोशिश करते हों, सो बात और थी।

चार-छह दिन तक पास-पड़ोस, जात-बिरादरी में प्रसंग चलता रहा। लोगों को इस घटना से गहरा सदमा पहुंचा था। फिर धीरे-धीरे खामोशी छाने लगी।

करीब पन्द्रह-बीस दिन बाद प्रमिला ने घर की ओर एक रिक्शा आते देखा। शायद पिताजी ने ही पत्र लिखा था कि आ जाओ, जो हो गया सो हो गया। पिताजी अब कभी-कभार घर से बाहर भी कदम रखने लगे थे। मां अब हर समय खाट पर चित, आंख मूंदे नही लेटे रहतो।

रिक्शा ड्योढी पर आकर रुका।

सामने के मकान से किसी वृद्ध ने झांककर देखा और शायद वह कुछ बड़बड़ाए। उन्हे लगा, सचमुच खराब समय आ गया है। किसी की इज्जत अपने हाथ नही। ये नये छोकरे-छोकरियां बुजुर्गों की सलाह लिये बिना अपने मन की करने लगे हैं। शायद उन्हे महसूस हुआ, जो हवा चल रही

[illegible]

है वह घर के भीतर नहीं आनी चाहिए। उन्होंने एक झटके से खिड़कियाँ बन्द कर दी। लेकिन शीशे के उस पार से उनकी आँखें टकटकी लगाए रहीं। परिवर्तन को अनदेख कर पाना शायद उनके लिए असम्भव हो रहा था।

ड्योढ़ी पर रुके रिक्शे में उर्मिला थी और उसके साथ था एक मर्द।

पिताजी घर आये दामाद का हल्की मुस्कान से स्वागत कर रहे थे : पीछे माँ आ खड़ी हुईं। उर्मिला ने माँ और पिताजी के चरण छुए। पिताजी को लगा, समय सचमुच बदल रहा है, लेकिन ऐसे नहीं कि हर कायदे और नियम को तोड़ जाए।

दिन-भर घर में हँस-हँसकर बातें होती रहीं। और सामने के मकान से रोष भरी आँखें बार-बार झांकती रहीं। लोगों को ताज्जुब हुआ, आखिर उर्मिला के पिता को यह क्या हो गया? इतनी जल्दी उन्होंने समझौता कर लिया? अब दूसरी लड़की भी बिगड़ेगी। हाँ, ऐसे शह देने से तो बच्चे बिगड़ते ही हैं। पर समझाये कौन जब बूढ़े का दिमाग ही खराब हो गया।

संध्या छह-सवा छह के करीब उर्मिला और अनिल घूमने निकले। साथ में प्रमिला थी। मोहल्ले में अपनी-अपनी खिड़कियों से सबने देखा और देखकर नई पीढ़ी को उसके दुस्साहस पर खूब कोसा। पर बातों में तर्क कम था, क्रोध अधिक।

और अन्दर ही अन्दर कहीं गहरे में सब महसूस कर रहे थे कि उनकी नींवें हिल रही हैं। समय सिर्फ खुद ही नहीं बदलता, लोगों को भी बदल देता है और जो बदलना नहीं चाहते, उन्हें एक किनारे धकेल कर स्वयं आगे निकल जाता है।

मोहल्ले का एकमात्र बिजली का खम्भा आज कुछ ज्यादा ही जगमगा रहा था, मानो बन्द खिड़कियों के उस पार से रोषभरी नजरों से देखने वालों को मुँह चिढ़ा रहा हो।

बीस-बाईस का जवान

आखिर सन्तोष रेखा के घर गया। रेखा उसे देखते ही खुश हो गई। उसने रेखा की खुशी का फायदा उठाया और कहा "चाय पिलाओ।"

रेखा मुस्कराते हुए चाय बनाने दौड पड़ी।

सन्तोष बीस-बाईस साल का जवान था। साल-भर पहले वह मैसूर के किसी शहर मे नौकरी पर लग गया था, लेकिन चार-छ: दिन हुए वह नौकरी छोड़कर आया था। जब से आया था, वह सोच रहा था, रेखा से मिलना है। रेखा के घर जाऊँगा। और आज वह रेखा के घर गया था और रेखा उसके लिए चाय बना रही थी। वह बैठा था और कमरे के आकाश की ओर देख रहा था और गुनगुना रहा था।

"कहो बेटे, कब आए?" तभी रेखा की मम्मी कमरे मे आईं। उसे 'बेटे' शब्द पर मन ही मन आपत्ति हुई।

"यही तीन-चार दिन हुए।" वह बोला।

रेखा की मम्मी दो-चार बातें कर अपने काम पर लग गईं। उसे अच्छा लगा। वह चाय बनाती हुई रेखा की ओर देखने लगा। 'रेखा कितनी अच्छी लगती है, जैसे···' उसने मन ही मन कहा और कोई उपमा ढूँढने लगा। पर उसे इस वक्त उपमा नही मिली। उसका कवि जवाब दे गया। रेखा ने उसकी ओर देखा तो उसने धीरे से इशारा कर, रेखा को अपने पास बुलाया।

रेखा फौरन आ गई।

रेखा को लगा, यह प्यार की बाते करने की जगह नही है, इसलिए उसने निहायत नीरस किस्म की बात मे प्रेमालाप आरम्भ किया।

"तुम मैसूर गए थे, पास ही कन्याकुमारी की तरफ भी गए?"

"नही।" सन्तोष पहले के वाक्य से बोर हो गया।

"जाना चाहिए था। वहाँ का सूर्यास्त देखने लायक होता है।"

"होता होगा।" उसने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"मैसूर कैसा लगा?"

"अच्छा।"

"जरूर अच्छा लगा होगा। मैसूर बड़ी रंगीन जगह है। वहाँ की लड़कियाँ वेणी में फूल बाँधती हैं।"

"बाँधती होंगी।" सन्तोष ने कहा और उसे लगा, रेखा अब कुछ मूड मे आ रही है, लेकिन वह अपने को गंभीर बनाते हुए बोला, "मैंने यह सब नोट नही किया।"

"ओह! नोट करना चाहिए था। तुम तो कविता भी लिखते हो।" रेखा मुस्कराई।

बोर मत करो!" सन्तोष ने सामने की दीवार पर टँके कलैण्डर की ओर देखते हुए कहा, "चाय पिलाओ, डियर।"

रेखा की मम्मी फिर आ गई। सन्तोष को इस समय इस तरह रेखा की मम्मी का आना अच्छा न लगा। रेखा फौरन 'पानी उबल गया' कहती हुई सामने किचन मे चाय बनाने दौड़ पड़ी।

रेखा की मम्मी उससे बातें करने लगी।

तीन-चार मिनट मे रेखा चाय बनाकर ले आई। रेखा और संतोष के साथ ही रेखा की मम्मी भी चाय पीने लगीं। उसे बहुत बुरा लगा। वह जल्दी-जल्दी चाय पीकर बाहर आ गया।

बाहर बँगले के लान में, रेखा के पापा, 'इज़ी चेयर' पर बैठे धूप का मजा ले रहे थे। जाड़ों में 'इज़ी चेयर' पर बैठ कर धूप का मजा लेना अच्छा लगता है। उसकी दोनों टाँगें सामने पड़ी दूसरी 'इज़ी चेयर' पर फैली हुई थी। सन्तोष को देखते ही उन्होंने दोनो टाँगे नीचे गिरा ली और कहा, "आओ, बेटे।"

सन्तोष 'बेटे' शब्द पर फिर मन ही मन बौखलाया और उन्ही के समीप दूसरी 'इज़ी चेयर' पर बैठ गया। लान के किनारे-किनारे फूल खिले हुए थे। धूप की चमक में खूबसूरत फूल और खूबसूरत लग रहे थे। संतोष

रेखा के पापा के पास बैठ कर गप्पें हाँकने लगा। रेखा इस बीच एक-दो बार बाहर के चक्कर लगा गई। सन्तोष के अलावा किसी को पता नहीं था कि रेखा चक्कर क्यों लगा रही है।

संतोष देर तक बैठा रेखा के पापा के साथ गप्पें हाँकता रहा। रेखा इसी बीच चार-पाँच बार चक्कर लगा गई। आखिर संतोष गप्पों से बोर हो गया और अचानक रेखा के पापा से बोला, "अच्छा, अब चलूँ, अंकल जी।"

"अच्छा बेटे, कभी-कभी आते रहना," रेखा के पापा ने कहा। इस बार फिर 'बेटे' शब्द पर संतोष बेतरह बौखलाया। पर वह क्या कहता! उसने सोचा, 'अंकल' शब्द पर क्या पता रेखा के पापा भी बौखलाए हों।

वह चलने लगा तो रेखा के पापा ने फिर अपनी दोनों टाँगें दूसरी 'इज़ी चेयर' पर फैला दी और एक नई सिगरेट पीने लगे। देखते-देखते सिगरेट का धुआँ आसमान की तरफ उड़ने लगा। संतोष ने मुड़ कर देखा। उसे रेखा के पापा का सिगरेट पीना और धुआँ आसमान की ओर उड़ाना बड़ा अच्छा लगा। सिगरेट पीते समय रेखा के पापा का मुँह किसी छोटे-मोटे कारखाने जैसा लगता था और सिगरेट ऐसी नज़र आती थी जैसे कारखाने के बीचोबीच लगी चिमनी।

सन्तोष को जाता देख रेखा बँगले के फाटक के पास आई। सन्तोष को रेखा की यह हरकत अच्छी लगी। रेखा ने सन्तोष के एकदम पास आकर कहा, "शीला शायद मुझसे नाराज है। उससे कहना, मुझे कल दो-ढाई बजे फोन कर ले।"

शीला यानी सन्तोष की बहन और रेखा की दोस्त। शीला आजकल रेखा से नाराज है। रेखा उससे कई दिन से मिलने नहीं आई। पहले रेखा हर दूसरे-तीसरे दिन उससे मिलने आती थी। शीला इसी वजह से आजकल रेखा से नाराज है। और रेखा को शीला की नाराजगी से डर लगता है।

"ठीक है, कह दूँगा।" सन्तोष ने कहा, इधर-उधर देखा और फिर कहा, "हाँ···तुम कल मिलोगी, कल शाम, इन्फारमेशन सेंटर, ठीक छः बजे?"

"तुम से कुछ बातें करनी है··"

"बातें !" रेखा ने कहा और फिर खुद भी इधर-उधर देखा और फिर मुस्कराई और फिर कहा, "क्या बातें…?"

"वही बताऊँगा।" सन्तोष ने फाटक बन्द करने में रेखा की मदद करते हुए कहा, "मिलना जरूर, हाँ…"

और वह चल दिया।

सन्तोष रेखा के बँगले के पास एक दोस्त के घर साइकिल रख आया था। वह लौट कर गया तो दोस्त घर पर नही था, पर साइकिल थी। उसने दोस्त का इंतजार नही किया और साइकिल लेकर निकल गया।

साइकिल पर चढ़ते ही तरह-तरह के विचार उसके दिमाग मे चक्कर काटने लगे, जैसे 'वाटर-कलर बॉक्स' खुल गया हो। तरह-तरह के विचार थे, जैसे 'वाटर-कलर बॉक्स' मे रखे तरह-तरह के रंग। उन तरह-तरह के विचारों में एक विचार यह था कि रेखा अच्छी लड़की है और उसे चाहती है और एक विचार यह भी था कि नही, चाहती-वाहती कुछ नहीं, यूँ ही बेवकूफ बनाती है। इन दोनों तरह के विचारो से अलग विचार यह भी था कि अच्छी-बुरी का कोई सवाल नही, बस यूँ ही हँस-बोल लेती है। शीला की सहेली है, इसलिए !…बहरहाल, कई तरह के विचार थे, 'वाटर-कलर-बॉक्स' मे रखे हुए कई तरह के रंगों जैसे, या मैसूर के 'वृन्दावन गार्डन' में चमकती कई तरह की बिजलियाँ जैसे…कई तरह के विचार थे। लेकिन…

सन्तोष के दिमाग में चकरघिन्नी की तरह चक्कर लगाते इन विचारों का क्रम पहली बार तब टूटा, जब चौराहे पर लाल-पीली-हरी बत्ती कण्ट्रोल करने वाले सिपाही की भारी-भरकम आवाज सुनाई दी, "मिस्टर…"

अचानक 'वाटर-कलर बॉक्स' भी गायब हो गया और 'वृन्दावन गार्डन' भी। लेकिन तभी लाल बत्ती बुझी, पीली बत्ती जली…पीली बत्ती बुझी और हरी बत्ती जली। एक बार फिर 'वृन्दावन गार्डन' में रोशनियाँ चमकी और 'वाटर-कलर बॉक्स' जैसे स्प्रिंग के झटके से खुल गया। सन्तोष ने पैडिल मारा और विचार फिर उसके दिमाग मे चक्कर काटने लगे। साइकिल लहराने लगी, जैसे झील मे लहरें उठ-गिर रही हों।

सन्तोष घर पहुँचा तो ताला बन्द था। घर में कोई न था। माँ भी नहीं, पिताजी भी नही, शीला भी नही, नन्ही भी नही, नन्ही भी नहीं···कोई भी नही। सारा घर सुनसान, जैसे सब मर गए हों। तभी दूसरी मंजिल से फटे बाँस की आवाज सुनाई दी, "सन्तोष भइया ··।"

"क्या है ?" सन्तोष ने अपने को गंभीर बनाते हुए कहा। उसे पता था, यह आवाज शशि की है। शशि यानी श्यामा !

"चाबी ऽऽऽ···" कहती हुई श्यामा क्षण-भर में पहली मंजिल पर उतर आई। बायें हाथ की तीसरी उँगली पर उसने चाबी का गुच्छा लटका दिया, जैसे झुनझुना लटका हो।

सन्तोष ने श्यामा से चाबी ली और कमरे का ताला खोलने लगा।

श्यामा गई नही। सन्तोष को देखती रही।

ताला खोल कर सन्तोष कमरे मे चला गया। श्यामा कमरे मे ही आ गई। ("सब लोग सनीमा गए।" फटे बाँस की आवाज कमरे मे गूँज उठी।

"अच्छा !" इस बार सन्तोष ने पहले से ज्यादा गंभीर बनते हुए कहा और वह एक किताब लेकर कुर्सी पर बैठ गया।

"श्यामा दीदी !" बाहर से किसी बच्चे की आवाज आई, "अम्मा बुलाती हैं !"

"कह दो, आए।" एक बार फिर फटा बाँस कमरे की दीवारों से टकराया।

क्षण-भर मे श्यामा ऊपर।

सन्तोष ने किताब मेज पर पटक दी। वह कुर्सी से खड़ा हुआ, उसने बिजली जलाई और मन ही मन निर्णय किया कि अब वह कुछ देर रेखा के बारे मे सोचेगा। आज ठीक साल-भर बाद रेखा के दर्शन हुए थे। साल भर मे रेखा बिल्कुल नही बदली। सन्तोष को लगा कि उसकी सुनी-सुनाई सब बातें मिथ्या सिद्ध हो गई कि लड़कियाँ बदल जाती है। सन्तोष को लगा, रेखा एक विशेष प्रकार की लड़की है, तमाम तरह की लड़कियों से अलग।

सन्तोष ने कपडे नही उतारे। वह सोफे पर धँस गया। इस बार उसने··

दोनों टाँगें सोफे के सामने रखे छोटे से मेज पर फैला दी और कमरे के आकाश की ओर नजरें धँसा कर फिर सोचने लगा। 'क्या सोचूँ?' उसने सोचा और अचानक उसे रेखा के शरीर की याद आई···रेखा छरहरे बदन की कितनी खूबसूरत लड़की है, जैसे···यह ऐन मौके पर उसके कवि को न जाने क्या हो जाता है। इस बार उसे फिर कोई उपमा नहीं सूझी। बहरहाल···वह सोचने लगा, रेखा का रंग भी काफी गोरा है और उसकी चाल भी बहुत सुन्दर है—लचकदार। उसका कपड़े पहनने का भी अपना एक अलग अंदाज है। कपड़ों के रंगों का चुनाव भी वह इस प्रकार करती है कि उसके ऊपर खूब जमने लगते हैं···रेखा के कपड़ों का ख्याल आते ही सन्तोष अपने कपड़े देखने लगा। सन्तोष ने कत्थई रंग का सूट और काले पालिश से चमचमाते जूते पहने हुए थे। मैसूर से लौटते समय वह 'पॉलिस्टर' की शर्ट खरीद लाया था। वही शर्ट इस समय सन्तोष ने पहनी हुई थी। गले में 'रा-सिल्क' की हल्की कत्थई टाई पड़ी हुई थी। टाई जिन्दगी में आज सन्तोष ने पहली बार पहनी थी। सच पूछो तो सन्तोष को टाई बाँधनी तक नहीं आती, इसीलिए वह अपने एक दोस्त से टाई बँधवा ले गया था।

दोस्तों ने टाई बाँधते समय कहा था, "तो बेटा, अब कंठ-लँगोट···" कंठ-लँगोट! उसे हँसी आ गई। रेखा आज उसके गले में पहली बार कंठ-लँगोट पड़ी देख कर बहुत खुश हुई थी। इस खुशी का अंदाज सन्तोष ने उसके होंठों पर फैली हुई कटीली मुस्कान को देख कर लगा लिया था।

अचानक शीला और माँ की पास आती बातचीत और नन्हें और नन्ही के उमड़ते शोर के कारण, टाई और कटीली मुस्कान और कपड़ों की बात अधूरी ही रह गई। सन्तोष ने कलाई-घड़ी पर नजर डाली—दस। उसे अब ख्याल आया, इतनी देर से वह सोफे पर ही धँसा हुआ था और इतनी देर से उसकी टाँगें सोफे के सामने रखी मेज पर ही फैली हुई थी। फैली हुई टाँगों को उसने बड़े मजे से मेज से नीचे गिरा दिया।

"क्यों, दिन भर कहाँ रहे तुम?" शीला ने पूछा।

"एक दोस्त के घर गया था। फिर वहाँ से कुछ देर रेखा के घर भी···"

"क्या कह रही थी रेखा ? मिली तो होगी।" उसने होंठों पर शातिर मुस्कान लाते हुए कहा।

"हाँ, मिली थी। कह रही थी, मैं दो-एक दिन मे जरूर आऊँगी और कह रही थी, शीला से कहना, मुझे फोन कर ले···कल दो-ढाई बजे।"

शीला दूसरे कमरे में चली गई। शीला जानती है, अब यदि वह फोन न भी करे तो भी रेखा आएगी जरूर दो-एक दिन मे। शीला सब समझती है, रेखा आएगी जरूर···अब यदि वह फोन न भी करे···और वह फोन करे ही क्यों···

सन्तोष ने निश्चय किया कि वह आज अवश्य ही रेखा से पूरी बातें करके लौटेगा। रेखा से वह साफ-साफ कह देगा कि···वह सोचने लगा, कैसे कहूँगा और क्या कहूँगा···हाँ, ठीक, अब वह अकेला नही रह सकता, रेखा के बिना अकेला नही रह सकता। कल रात-भर उसे नींद नही आई। रात-भर वह रेखा के ख्यालों मे डूबा रहा और आज भी पूरा दिन बडी मुश्किल से कटा है।···सन्तोष ने पैण्ट पहनी और पोलिएस्टर की झक-झक चमचमाती कमीज को बहुत सँभाल कर पैण्ट के अन्दर डाला। पैण्ट के बटन फिट किए। लैटरबॉक्स कही खुला न रह जाए, उसने मन ही मन सोचा।

'लैटरबॉक्स !' उसे हँसी आ गई। और उसने कमीज का फॉल ठीक किया और फिर गले मे टाई डाली, वही रॉ-सिल्क की हल्की-कत्थई कंठ-लँगोट जिसकी नॉट पहले से बँधी हुई थी। फिर उसने अपने को शीशे में देखा। आज वह अपने को और दिनो से ज्यादा सुन्दर महसूस कर रहा था। अपनी सुन्दरता को बढाने के लिए उसने मुँह पर क्रीम भी लगा लिया। सचमुच, क्रीम लगाकर वह अब और सुन्दर लगने लगा था। इसके बाद उसने बालों पर कंघी फेरी। कंघी फेरते समय उसे अचानक ख्याल आया, रेखा चल चुकी होगी। कंघी को उसने पैण्ट की पिछली जेब मे रख लिया और बालों के एक गुच्छे को माथे पर लटका कर छोड़ दिया। अब वह किसी फिल्मी हीरो जैसा लग रहा था। अंत मे उसने कोट पहना, जूते के फीते

बाँधे और वह जाने लगा। जाते-जाते उसने एक बार फिर शीशे में अपना मुँह देखा। मुँह देख कर वह मुस्कराया। मुस्करा कर उसने अपने सिर को झटका दिया। पर इस झटके से उसकी सारी जुल्फें माथे पर फैल गईं। उसने बड़ी मुश्किल से कुछ बालों को पीछे किया, शेष माथे पर ही रहने दिए। वह फिर मुस्कराया।

उसने साइकिल निकाली और सड़क पर पहुँच गया। फाटक के पास खड़ी शीला उसके सजाव शृंगार को देखकर मन ही मन हँस रही थी।

सन्तोष ने साइकिल का पैंडिल मारा और वह उचक कर गद्दी पर चढ़ गया। थोड़ी देर में लहराती हुई साइकिल सड़क पर दौड़ने लगी, उसे लगा, आज वह साइकिल पर नहीं, एरोप्लेन पर चढ़ा है।

रास्ते-भर वह सोचता रहा कि किस तरह बात आरम्भ करेगा। बात आरम्भ करने के उसने कई उपाय सोचे और सोचते-सोचते वह हजरतगंज पहुँच गया। उसने 'हनुमान-मन्दिर' के बगल में 'साइकिल स्टैंड' में साइकिल जमा की और सीधा 'इन्फारमेशन सेंटर' की ओर चला। जाने से पहले उसने एक मिनट मन्दिर के सामने खड़े होकर हनुमानजी की वन्दना की।

'इन्फारमेशन सेंटर' में उसने चारों ओर खोजा पर रेखा नहीं आई थी। सन्तोष एकाएक झुंझला उठा, अभी तक नहीं आई। 'हुँह, औरतों पर एतबार नहीं करना चाहिए।''''' उसने पैंण्ट की पीछे वाली जेब से कंघी निकाली और टाइम पास करने के लिए बाल सँवारने लगा। फिर वह सीढ़ियाँ उतरता हुआ नीचे आ गया और गेट पर इंतजार करने लगा।

इंतजार करते समय उसने रेखा के विषय में सोचना आरम्भ कर दिया। दरअसल वह रेखा के बारे में सोचना आरम्भ कर चुका था, पर उसे इस बात का पता देर में चला। उसे जिस वक्त ख्याल आया कि वह रेखा के बारे में सोच रहा है, उस समय वह सोच रहा था, रेखा जरूर कोई सुन्दर-सी साड़ी पहनकर आएगी। और उस साड़ी के साथ वह जरूर कोई सुन्दर-सा ब्लाउज पहने होगी और उस साड़ी-ब्लाउज के साथ वह जरूर कोई सुन्दर-सा शाल ओढ़े होगी। वह अभी सोच ही रहा था कि रेखा आ

गई। रेखा साडी-ब्लाउज नही, शलवार-कमीज पहने थी। शलवार-कमीज के साथ उसने गहरे हरे रग का स्वेटर पहन रखा था और उसकी वेणी मे सफेद फूल बँधे हुए थे—मैंभूर की लडकियाँ जैसे फूल बाँधती हैं। उसके होंठो मे लिप्सटिक लगी हुई थी। रेखा के होंठो मे लिप्सटिक लगी देख सन्तोष का मन हुआ कि कहे, 'रेखा, तुम गुलाबी होठों वाली लड़की हो।' पर उसने इस तरह बात आरम्भ नहीं की। सन्तोष रेखा की ओर देखकर मुस्कराया और उसने कहा, "तुमने बडी देर कर दी।"

रेखा ने सन्तोष की इस बात का कोई उत्तर न दिया। वह मुस्करा दी।

रेखा को मुस्कराते देखकर सन्तोष का मन हुआ कि कहे, 'तुम मुस्कराती हो तो तुम्हारे गालों पर फूल खिल जाते हैं।' पर सन्तोष ने रेखा से ऐसा नही कहा। उसने कहा, "चलो, हम लोग थोड़ी देर घूमें।"

"पापा घर पर नही थे। कही वो भी यहीं न आए हों। खैर, देखा जाएगा।" रेखा ने कहा और दोनो घूमने लगे।

रेखा ने सन्तोष से नही पूछा कि आखिर उसने किस बात के लिए उसे यहाँ बुलाया है। रेखा जानती थी कि सन्तोष ने किस बात के लिए उसे यहाँ बुलवाया है। रेखा ने कहा, "तुम सूट पहनकर बड़े अच्छे लगते हो, सन्तोष!"

वास्तव मे वह सूट पहनकर बडा अच्छा लगता है, यह खुद सन्तोष ने भी कई बार महसूस किया है। सन्तोष ने रेखा की बात का उत्तर बराबर के वजन मे दिया, "तुम्हारे ऊपर यह स्वेटर बडा जँचता है, रेखा।" कहकर सन्तोष सोचने लगा, असली बात कैसे आरम्भ की जाए?

रेखा सन्तोष की बात पर फिर मुस्करा दी। मुस्कराने के साथ ही उसके गालों पर गुलाब खिल आए। सन्तोष की इच्छा हुई, ये गुलाब हमेशा खिले रहें, पर···

रेखा ने चलते-चलते सन्तोष की ओर देखकर कहा, "सन्तोष, अब तो तुम टाई भी पहनने लगे हो।" और इस बार उसके लिप्सटिक लगे होठों पर चौकस डेढ इंच मुस्कान खिल आई।

"हाँ, तुम भी तो काफी अपटुडेट रहने लगी हो।" सन्तोष ने कहा और जेब से सिगरेट का पाकेट निकला।

"अच्छा, तो तुम अब सिगरेट भी पीने लगे हो !" रेखा ने कहा।

सन्तोष ने कुछ जवाब नही दिया। वह सिगरेट जलाने लगा। सन्तोष सिगरेट पहले भी पीता था, लेकिन पहले वह छिप-छिप कर पीता था, अब केवल घर वालों से छिप कर पीता है। सिगरेट पीते समय सन्तोष को रेखा के छोटे भाई निक्कू की याद आ गयी। निक्कू भी सिगरेट पीता है; पर खुलेआम नही, छिप-छिपकर। सन्तोष ने एक दिन निक्कू को भी सिगरेट पीते रँगे हाथों पकड़ लिया था।

सन्तोष ने सिगरेट का कस लिया और क्षण-भर मे ही धुआँ बाहर फेंक दिया। सन्तोष अधिक समय तक अपने अन्दर धुआँ रोक नही सकता। धुआँ फेंक कर सन्तोष ने रेखा से बुजुर्गों के-से अंदाज में पूछा, "तुम्हारे भाई ने स्टडीज छोड दी क्या ?" पूछ कर सन्तोष को लगा कि वह गलत विषय पर लग गया है।

"हाँ," रेखा ने कहा, "वह पापा के साथ बिजनेस पर लग गया है।"

अब तक वे दोनों हजरतगंज का एक चक्कर लगा चुके थे। हजरतगंज मे भीड बढ गई थी। लोग टहल रहे थे। दोनों टहलते रहे। सन्तोष चुप था। रेखा ने फिर बात शुरू की, "सन्तोष, तुम अपनी सर्विस की दावत कब दे रहे हो ?"

सन्तोष हँसा, "सर्विस लगने की या छोडने की ?"

"तो क्या तुमने नौकरी दी ?" रेखा ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ छोडकर आ गया हूँ।" कुछ रुक कर उसने कहा, "चलो हम लोग चाय पिएँ।" और उसने रेखा का हाथ अपने हाथ मे किया और वे दोनो सडक पार करके 'चौधरी स्वीट हाउस' के सामने जा पहुँचे। सन्तोष को लगा, रेखा के हाथ बडे कोमल है। उसका मन हुआ, वह रेखा का हाथ पकडे ही रहे, पर रेखा ने धीरे से अपना हाथ सन्तोष के हाथ से अलग कर लिया। सन्तोष को लगा, रेखा सुन्दर भी है और चालाक भी। 'यह अच्छा है,' उसने अपने को दिलासा देने के लिए मन ही मन कहा।

दोनों 'चौधरी स्वीट हाउस' मे चले गए। और दिनों की तरह 'स्वीट हाउस' मे आज ज्यादा भीड नही थी। दोनो दूसरी मंजिल पर पहुँच गए। दूसरी मजिल मे अक्सर जोडे बैठते हैं।

सन्तोष के मन मे बहुत देर से एक ही बात चक्कर लगा रही थी कि आखिर 'असली बात' कैसे आरम्भ की जाए ? उसने निश्चय कर रखा था कि वह आज अवश्य ही रेखा से पूरी बाते करके लौटेगा। वह रेखा से साफ-साफ कह देगा कि…कि अब वह अकेला नही रह सकता। इस जिन्दगी का भार अब अकेले नही ढो सकता। रेखा के विना…

बैरा पानी के दो गिलास रख गया। सन्तोष ने बैरा को दो प्लेट गुलाब जामुन लाने का आर्डर दिया। रेखा ने गिलास होठो से लगाया और घूंट-भर पानी पीकर क्षण-भर मे ही गिलास नीचे रख दिया। फिर वह बहुत हल्के-हल्के, होंठों को रूमाल से पोछने लगी। सन्तोष ने भी पानी पीकर गिलास मेज पर रखा, पर वह रूमाल जेब मे निकालना भूल गया। उसने हथेली उल्टी की और होठो पर फिरा दी। 'असली बात' की भूमिका बाँधते हुए उसने बात शुरू की, "रेखा, सुना है तुम्हारी आटी ने विवाह कर लिया।"

"हाँ, आटी ने 'रेनबो रेडीमेड गार्मेन्ट्स' के मालिक मीरचन्दानी से शादी कर ली।" रेखा ने कहा।

"ओह !…लेकिन मिस्टर पुरी का क्या हुआ ?" सन्तोष ने पूछा।

"कौन, पेण्टर पुरी ?" रेखा ने पूछा।

बैरा दो प्लेट गुलाब जामुन रख गया।

"हाँ," सन्तोष ने कहा।

"कभी-कभी दिखाई पड़ता है, अब उसने दाढी बढा ली है।" रेखा ने बोर होते हुए कहा और एक गुलाव जामुन मुंह मे डाला।

बैरा को चाय लाने का आर्डर देकर सन्तोष ने बात बदलते हुए कहा, "तुम्हारी वेणी मे बँधे हुए ये सफेद फूल बडे अच्छे लगते है।"

रेखा गुलाब जामुन खाते हुए सन्तोष की तरफ देखने लगी। सन्तोष ने माथे पर लटकी हुई जुल्फों को पीछे सरका दिया और गुलाब जामुन मुंह मे डाला।

"मुझे ऐसे फूल बाँधने का ढंग आटी ने सिखाया।" रेखा ने कहा।

"तुम अपनी आटी से ज्यादा खूबसूरत लगती हो।" सन्तोष ने कहा और दूसरा गुलाब जामुन मुंह में डाला। रेखा दूसरा गुलाब जामुन कब का

साफ कर चुकी थी।

"अब तुम भी काफी हैण्डसम लगने लगे हो।" उसने धीरे से कहा।

"सच ?" सन्तोष ने पूछा और वह सचमुच अपने को हैण्डसम महसूस करने लगा। हजरतगंज आने से पहले सूट-बूट पहनते समय भी उसने अपने को हैण्डसम महसूस किया था।

"शीला ने तुम्हें फोन किया ?"

"नहीं तो," रेखा बोली, "वह आजकल नाराज है।"

"लेकिन तुम्हें उसे नाराज नहीं करना चाहिए।"

बैरा चाय रख गया।

रेखा चाय बनाने लगी। बनाकर उसने एक कप सन्तोष को दिया और एक कप खुद लिया। दोनों चाय पीने लगे। 'बताओ तो मैं कितना हैण्डसम लगता हूँ ?' उसका मन हुआ वह रेखा से पूछे। पर उसे अपनी वयस्कता के आगे यह बात काफी बचकानी लगी। उसने नहीं पूछा। अब तक 'असली बात' की भूमिका बँध चुकी थी। उसने सोचा, असली बात इस तरह शुरू की जाए, 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ, रेखा !...तुम मुझसे शादी करोगी ?'

वह रेखा को ओर देखने लगा।

उसे लगा, रेखा इस निर्णायक क्षण में होंठों की ओर चाय का कप ले जाती हुई उसकी ओर देखते हुए कह रही है, "मैं भी तुमसे प्रेम करती हूँ, सन्तोष !" और विवाह की बात को वह चाय के घूँट के साथ पी गई है।

उसने अपनी बात कहने के लिए मन ही मन कई बार दुहराई। फिर सोचा, 'कहने से पूर्व एक बार रेखा का मूड पढ़ लूँ।' वह उसका मूड पढ़ने की कोशिश करने लगा। उसने देखा, रेखा मुस्करा रही थी। वह मन ही मन दुहराया हुआ वाक्य सहसा भूल गया। इस बार रेखा की मुस्कान को देखकर उसका मन हुआ कि कहे, 'तुम्हारी मुस्कान बहुत कटीली है, रेखा।' पर उसने ऐसा नहीं कहा। उसे फिर अपनी वय का ख्याल आया। उसे लगा, ऐसी बातें 'लडके' कहा करते हैं। और अब वह 'लडका' नहीं है, बीस-बाईस का जवान है। वह चुपचाप रेखा को मुस्कान बिखेरते देखता रहा—चौकस डेढ इंच मुस्कान। रेखा को इस तरह डेढ़ इंच मुस्कान बिखेरते हुए देखते रहना सन्तोष को बहुत अच्छा लगा।

कुछ देर में वे दोनों चाय पीकर 'चौधरी स्वीट हाउस' के बाहर निकल आए। बाहर आकर सन्तोष ने कहा, "चलो, हम लोग कुछ देर और घूमें।"

'इन्फारमेशन सेंटर' में रेडियो पर खबरें सुनाई जा रही थीं।

"चलो, हम लोग उस ओर चलें।" रेखा ने कहा और सन्तोष का हाथ अपने हाथ में ले लिया। 'सन्तोष का हाथ कोमल नहीं है,' उसे महसूस हुआ। 'मर्द का हाथ ऐसा ही होना चाहिए,' उसने मन ही मन कहा।

वे दोनों सड़क क्रॉस करके इस पार आ गए और घूमने लगे। 'युनिवर्सल बुक डिपो' का लम्बा और तगड़ा मालिक दुकान के फुटपाथ पर खड़ा किसी से जोर-जोर से बातें कर रहा था। कुछ ही देर में वे दोनों 'फिलिमस्तान' सिनेमा हॉल को पार कर चुके थे। 'फिलिमस्तान' के नीचे मैदाननुमा सड़क पर भीड़ नहीं थी।

अचानक रेखा हाथ में बँधी घड़ी देखने लगी।

"तुम्हें देर हो रही है क्या?" सन्तोष ने पूछा।

"नहीं," रेखा ने कहा, "लेकिन अब जाना चाहिए।"

"हाँ, हम लोग काफी घूम लिए।"

उसने सामने से आते रिक्शा को रोक लिया।

रेखा रिक्शा में बैठ गई।

रेखा की बात पर सन्तोष धीरे से हँस दिया और उसने रिक्शा पर बैठी रेखा का हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"कल मिलोगी?" रेखा ने हाथ छुड़ाया तो उसने पूछा।

"हाँ, मिलूँगी।" रेखा ने कहा।

"कल भी वेणी में ऐसे ही फूल बाँधकर आना।" उसने धीरे से कहा।

"कल तुम भी यही सूट पहनना। इस सूट में तुम अच्छे लगते हो।" वह भी धीरे से बोली।

सन्तोष खुश हुआ। तुरन्त उसने अपनी जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला।

"तुम बहुत सिगरेट पीने लगे हो!" रेखा ने नाराज होते हुए कहा।

वह कुछ नहीं बोला।

"कल शीला से मिलने आऊँगी।" रेखा ने विषय-परिवर्तन किया।

"अच्छा···ठीक है, तीन बजे आना। मैं घर पर ही रहूँगा।" सन्तोष ने कहा।

रिक्शा चलने लगा। रेखा ने हाथ हिलाया। सन्तोष ने सिगरेट का कश लेकर क्षण-भर में ही धुआँ बाहर फेंक दिया, रेखा के मुँह की ओर। रेखा धुएँ में लिपट गई।

रिक्शा आगे निकल गया।

सिगरेट पीता हुआ सन्तोष 'साइकिल स्टैण्ड' की तरफ आया। दस पैसे का सिक्का 'साइकिल स्टैण्ड' के मालिक को देकर सन्तोष ने साइकिल ली और वह रेखा के खयालों में डूबा हुआ साइकिल चलाने लगा। सिगरेट का आखिरी कश लेकर उसने टुर्रा उछालकर दूर फेंक दिया। क्षण-भर में ही उसकी साइकिल लहराती हुई तेजी से भागने लगी। 'रेखा अच्छी लड़की है,' वह सोचने लगा। 'मैं उसी से शादी करूँगा,' उसने फैसला किया। साइकिल चलाते समय तमाम तरह के विचार उसके मन में चक्कर काटने लगे। 'वाटर-कलर बॉक्स' के लाल, हरे, नीले, पीले रंग उसके सामने चमकने लगे। उसने घूमकर देखा, पर रिक्शा उसे नहीं दिखाई दिया। रिक्शा बहुत दूर जा चुका था। 'रेखा मुझे चाहती है,' उसकी आँखों के आगे किसी सुन्दर रंग की एक लकीर उभरी। पर तभी एक और रंग की लकीर इस लकीर पर बैठ गई···'नहीं, चाहती-वाहती कुछ नहीं, यूँ ही बेवकूफ बनाती है।' अचानक सन्तोष को एहसास हुआ, वह एरोप्लेन पर नहीं, साइकिल पर बैठा है। नहीं, नहीं, मुझे ऐसे नहीं सोचना चाहिए।' उसने अपने से कहा।···इसी तरह अपने से बातें करता, साइकिल लहराता हुआ वह घर पहुँच गया। 'रेखा भी घर पहुँच गई होगी,' उसने सोचा। 'अब रेखा कल आएगी, कल भी वह वेणी में सफेद फूल बाँधे होगी।' उसने सोचना जारी रखा। पर एकाएक 'वाटर-कलर बॉक्स' बन्द हो गया, रंग गायब हो गए, जैसे अचानक कहीं पर साइकिल टकरा गई। आज भी घर में ताला। घर में कोई नहीं था। सारा घर सुनसान, जैसे सब मर गए हों।

"सन्तोष भइया···" दूसरा मंजिल से फटे बाँस-सी आवाज उभरी।

वही शशि अर्थात् श्यामा।

क्षण-भर में श्यामा नीचे।

"क्या है ?" सन्तोष को लगा, आँखो के आगे उभरे हुए रंगों की अनेक खूबसूरत और चमकीली लकीरों पर एक काली और भद्दी लकीर बैठ गई है।

"चाबीऽऽऽ" बाएँ हाथ की तीसरी उँगली पर झुनझुना-सा लटक गया। "सब लोग घूमने गए।" फटा बाँस सन्तोष से टकराने लगा।

"रहने दो, मैं भी घूमने जा रहा हूँ।" सन्तोष बाहर निकल आया और साइकिल लेकर चल पडा।

क्षण-भर मे श्यामा ऊपर।

'अजीब लडकी है, भइया भी कहती है और···' वह अपने से ही बोला और फिर रेखा के खयालों मे डूब गया। उसे अफसोस हुआ, इतनी अच्छी शाम थी, इतना अच्छा मौका था, फिर भी वह रेखा से अपने मन की असली बात न कह सका।

'कल जरूर कहूँगा।' उसने एक बार फिर निश्चय किया और उसकी साइकिल सडक पर फिर दौडने लगी।

खनकती हुई हँसी

एक-दूसरे के सामने से जाते हुए नजरें मिली और दोनों खड़े के खड़े रह गए।

क्षण-भर पहले प्रतीश ने सोचा भी नही था कि जो महिला सामने से आ रही है, वह मिसेज सिंह होगी। शायद मिसेज सिंह ने भी न सोचा हो कि सामने से जो व्यक्ति आ रहा है, वह प्रतीश होगा।

"अरे, तुम !" प्रतीश ने आश्चर्य से कहा।

"हाँ, मैं···लेकिन तुम कहाँ इस अजनबी शहर मे कैसे ?"

"टूर पर, लेकिन···"

"रुक क्यो गए, बोलो।" यह पूछना चाहते हो कि मैं यहाँ कब आई, कब से हूँ, किसके साथ हूँ, क्यों हूँ···?"

लेकिन प्रतीश ने इनमें से कोई प्रश्न नही पूछा। पूछने की आवश्यकता भी न थी। काले फ्रेम के चश्मे के पीछे उसकी आँखों और होंठों की मुस्कान ने यह सवाल अपने आप ही पूछ लिए थे और मिसेज सिंह समझ गई थी।

"इस समय कहाँ जा रहे हो ?" उन्होंने प्रतीश से पूछा।

"कुछ फुरसत मिली है।" सोचा तुम्हारा शहर देख लूँ।

"मेरा शहर ?" मिसेज सिंह ने कहा और खनकती चूड़ियो की तरह उनकी हँसी उभर उठी।

प्रतीश ने यह हँसी कई बार सुनी थी। शुरू-शुरू में इसी हँसी पर वह रीझ उठा था और रीझ उठा था मिसेज सिंह की चंचलता पर, पैंतीस-छत्तीस की उम्र मे भी उनके शरीर पर ऊपर से नीचे तक छाए यौवन पर।

शायद उनकी इसी हँसी, इसी खनकती हँसी, इसी चचलता और

इसी यौवन पर मिस्टर सिंह भी रीझ उठे थे। इसीलिए उन्होंने अपनी स्टेनो कुमारी शर्मा को लोगों के देखते-देखते मिसेज सिंह बना लिया था। दोस्तों ने मना किया, किन्तु मिस्टर सिंह ने एक न सुनी। जिन मिस्टर सिंह को लड़कियों, बल्कि कहा जाए कि औरत जात से ही नफरत थी, वही अपनी स्टेनो पर फिदा हो गए थे। चंद दिन पहले तक जो कुमारी शर्मा दफ्तर से छुट्टी पाने के बाद बसों में टक्करें खाते हुए शाम के अँधेरे में घर लौटती थी, चंद दिन बाद वही मिसेज सिंह बनकर इम्पोर्टेड कार में बैठने लगी। हजार-हजार दुखों के बाद मानो एक साथ लाखों सुखों की वर्षा हो गई हो। चारों ओर रंगीन फूल ही फूल महकने लगे।

लेकिन ये फूल अधिक दिन तक न महक सके। वही हुआ जिसकी आशंका मिस्टर सिंह के दोस्तों और परिवार वालों को थी। पति-पत्नी के बीच शुरू में हल्की-सी नोक-झोंक हुई, फिर यह बढ़ते-बढ़ते झगड़े का रूप लेने लगी और एक दिन वह भी आया जब मिसेज सिंह अपने पति से अलग हो गईं।

नए सिरे से उन्होंने जिन्दगी शुरू कर दी।

और तभी उनका परिचय हुआ प्रतीश से। सुन्दर, आकर्षक प्रतीश, जिसके सामने भविष्य बाँहें पसारे खड़ा था।

और बाँहें पसारे खड़ी थी मिसेज सिंह।

और मिसेज सिंह इस समय भी उसके सामने खड़ी थी। चेहरे पर वही चंचलता, वही मुस्कान, शरीर पर वही यौवन—कहीं कोई परिवर्तन नहीं, कहीं कोई बदलाव नहीं।

"तो तुम मेरा शहर देखने निकले हो?" मिसेज ने 'मेरा' शब्द पर जोर दे व्यंग्य से कहा।

"निकला हूँ नहीं, निकला था। पर अब शहर को क्या देखूँ, तुम जो दिख गईं।" प्रतीश ने हँसते हुए उत्तर दिया।

"अब भी मुझसे इतना लगाव है।" उन्होंने फिर व्यंग्य के लहजे में कहा। फिर वह गंभीर हो गईं और बोली, "अब अगर सचमुच शहर नहीं देखना है तो आओ, चलो, किसी रेस्तराँ में बैठें।"

"घर नही ले जाओगी ?" कहकर वह हँस दिया ।

"ले जा सकती हूँ । मुझे कोई फर्क नही पडता ।" मिसेज सिंह ने कहा, "लेकिन शायद तुम्हे वहाँ जाकर दुख ही होगा। शायद दिल पर चोट लगे।"

"सो क्यो ?"

"इस प्रश्न का उत्तर बाद मे ।"

प्रतीश एकाएक गंभीर हो गया। उसे मिसेज सिंह का यह वाक्य अच्छा नही लगा और इस बात को स्वय मिसेज सिंह भी भांप गईं। इसीलिए उन्होंने पूछा, "क्यो बुरा मान गए क्या, मैं अपने शब्द वापस लेती हूँ। आओ, पहले किसी रेस्तराँ में चलकर कॉफी पीते है और फिर तुम्हें अपने घर ले चलूंगी। चाहो तो रात को वही रहना ।"

प्रतीश उनके साथ सामने ही एक रेस्तराँ मे हो लिया।

रेस्तराँ मे मद्धिम रोशनियों के प्रकाश मे वे दोनों कोने वाली एक मेज पर कुहनियाँ टिकाकर आमने-सामने बैठ गए।

मिस्टर सिंह से झगड़े के बाद जब मिसेज सिंह प्रतीश की ओर बढी थी तो प्रतीश ने आगे बढकर उनका स्वागत किया था। वह खुश हुई थी कि जिन्दगी मे एक बार फिर से खुशियाँ लौट आई है। प्रतीश से उनका परिचय उसी कम्पनी में हुआ था, जहाँ उन्होंने मिस्टर सिंह से झगडा होने के बाद नौकरी कर ली थी। उनमें और प्रतीश में फर्क यह था कि जहाँ वह रिसेप्शनिस्ट थी, वही प्रतीश उस कम्पनी मे जूनियर एडमिनिस्ट्रेटिव ऑफिसर था। दोनो में पद का काफी अंतर था, लेकिन मिसेज सिंह की नीली झील-सी आँखो के मौन निमंत्रण ने इस अतर को समाप्त कर दिया था। दोनों के बीच की दूरी सहज ही खत्म हो गई थी। और अब प्रतीश की युवा बाँहो मे मिसेज सिंह की देह थी, प्रतीश के होंठो मे मिसेज सिंह के अधर थे और मिसेज सिंह की आँखों मे प्रतीश के सपने थे।

और मिसेज सिंह कम्पनी के युवा अधिकारी मिस्टर प्रतीश की ओर बढती चली गई थी। मिस्टर सिंह के साथ बिताई जिन्दगी को उन्होंने फिल्म का दुखात दृश्य मान कर भुला दिया था या कम-से-कम भुलाने की कोशिश तो की ही थी। और वह इस कोशिश मे काफी हद तक सफल रही थी --

हाँ, पूरी तरह नहीं, पर काफी हद तक। कभी-कभार मिस्टर सिंह के साथ बिताई जिन्दगी आँधी मे उडते पत्तों की भाँति सामने आ जाती थी। लेकिन तभी ऐन मौके पर प्रतीश सामने आकर उन्हे अतीत के इस झंझावात से, बीते हुए सपने के दुखद संसार से मुक्त कर देता था। वह प्रतीश की बाँहों में सिमट कर सब कुछ भूल जाती थी।

और अतीत के दुखद अध्याय को भुलाने वाले ऐसे ही सुख के क्षणों में एक दिन उन्होंने प्रतीश से पूछा, "यह जिन्दगी ऐसे कब तक कटेगी ?

तब प्रतीश ने पूछा था, "लेकिन क्या मिस्टर सिंह से तुम तलाक ले चुकी हो ?"

"लिया तो नहीं," मिसेज सिंह ने कहा, "लेकिन लिया ही समझो।"

"मैं तो समझ लूँगा, लेकिन कानून तो ऐसा नही समझेगा।" प्रतीश ने कहा, "बिना तलाक लिए कोई दूसरे के साथ तो रह सकता है, लेकिन दूसरी शादी कैसे कर सकता है ?"

और मिसेज सिंह कानून के भँवरजाल से मुक्ति पाने के पशोपेश में पड गई थी।

लेकिन उस समय मिसेज सिंह को नही मालूम था कि प्रतीश के वाक्य का दोहरा अर्थ है, फिल्म के किसी अभिनेता के द्विअर्थी संवादो की तरह। प्रतीश के वाक्य का दोहरा अर्थ मिसेज सिंह को बहुत बाद मे पता चला।

बहुत बाद मे पता चला कि प्रतीश स्वयं भी विवाहित है और जब पता चला तो मिसेज सिंह बुरी तरह टूट गई। शायद न भी टूटती यदि प्रतीश के भी अपनी पत्नी से वैसे ही सम्बन्ध होते जैसे उनके मिस्टर सिंह से थे। लेकिन प्रतीश का अपनी पत्नी से कोई झगड़ा न था। चूँकि उसकी पत्नी दूसरे शहर के विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थी, महज इसलिए दोनों को एक-दूसरे से अलग, एक-दूसरे से दूर रहना पडता था। मिसेज सिंह को लगा कि मानो उनकी जिन्दगी मे तूफान आ गया है, पिछले तूफान से भी ज्यादा भयंकर।

औरत पहले प्यार की असफलता के बाद गभीर हो जाती है और दूसरा प्यार विफल होता है तो वह टूट-बिखर ही जाती है। पर मिसेज सिंह टूट तो गई, किन्तु बिखरी नही। उन्होंने अपने को बिखरने से किसी तरह बचा लिया और वह चुपचाप उस शहर को छोड कर चली गई जहाँ कदम-कदम

पर मिस्टर सिंह थे, प्रतीश था···

"लेकिन तुम्हें कम-से-कम बता कर तो जाना ही था।" प्रतीश ने कहा।

और मिसेज सिंह मानो इसी प्रश्न की प्रतीक्षा में ही थी। बोलीं, "बताया तो उसे जाता है जो अपनी बात दूसरों को भी बताए। तुमने ही भला कब बताया था कि···"

"खैर, छोड़ो अब उस प्रसंग को।" प्रतीश ने तड़पते हुए कहा। वह क्षण-भर के लिए कहीं खो गया।

"क्यों, छोड़ो क्यों?" मिसेज सिंह बोलीं, "जब एक प्रसंग दूसरे से जुड़ा हो तो भला हम किसी एक प्रसंग को छोड़ कैसे सकते हैं!"

"हाँ, छोड़ तो नहीं सकते," प्रतीश ने कहा, लेकिन शायद तुम्हें पता न होगा कि मेरी पत्नी की इस बीच मृत्यु हो चुकी है।"

और वह उदास हो गया।

मिसेज सिंह सुनकर क्षण-भर अवाक् रह गईं, लेकिन फिर उन्होंने मानो प्रतीश से बदला लेने का सर्वोत्तम अवसर पाकर कहा,"और तुम्हें भी मालूम न होगा, प्रतीश, कि मैंने दूसरी शादी कर ली है—मिस्टर सिंह से तलाक लेने के बाद मैंने इसी शहर में दूसरी शादी कर ली है।"

प्रतीश अवाक्-सा उनकी ओर देखने लगा। मिसेज सिंह कह रही थीं, "और अब बहुत देर हो चुकी है, प्रतीश। अब मैं फिर से मिसेज सिंह बन गई हूँ, लेकिन इस बार मैंने जिन मिस्टर सिंह को चुना है, वे पिछले वाले मिस्टर सिंह से भिन्न हैं, और तुम से भी। वे न तो किसी कम्पनी के मालिक हैं और न तुम्हारी तरह एडमिनिस्ट्रेटिव आफिसर। वे एक साधारण इन्सान हैं जिनके साथ एक साधारण जिन्दगी बिताते हुए मैं खुश हूँ।···" और इतना कहकर मिसेज सिंह धीरे से हँस दीं।

रेस्तराँ के मद्धिम प्रकाश के बीच मिसेज सिंह की हँसी की खनक किसी ड्राइंग-रूम के पर्दों में लगी घंटियों की मधुर ध्वनि-सी गूँज उठी। लेकिन मेज पर से कुहनियाँ हटाकर उठते हुए प्रतीश इस बार मिसेज सिंह की हँसी की खनक से आहत हो गया।

पर इसमें मिसेज सिंह का क्या दोष!

महानगर

…और उसे रह-रहकर अपना अतीत याद आने लगता है। अतीत, जिससे अब उसका कोई वास्ता नही है। अतीत, जो बहुत अप्रीतिकर है। लेकिन इस सुधार-गृह मे भी अतीत उसका पीछा नही छोडता। उसे कचोटता रहता है। वह छटपटाता है। समुद्र की तडपती लहरो की तरह पछाडे खाता है।

'न जाने गाँव में पिता का क्या हाल होगा,' वह सोचता है। सोचता है, कही उसके दुख मे वह ससार छोडकर ही न चले गए हों।

और माँ ? माँ की आँखे शुरू मे चार-छ. दिन रो-रो कर सूज गई होंगी और अब उन्होंने अपना हृदय कठोर कर लिया होगा। पत्थर की तरह। सारे गाँव मे उसकी चर्चा हुई होगी। चार-छः रोज उसकी खोज की गई होगी और फिर…? और फिर सब कुछ शात हो गया होगा। अब तो सब भूल ही गए होंगे। ओह !…लेकिन जब पिता की वह पुरानी अटैची नही मिली होगी, तब ? तब क्या सोचा होगा उन्होने ?

वह कांप उठा। उसने पिता के साथ कितना बडा अन्याय किया ! कैसा धोखा किया ! धोखा !—इस शब्द का ख्याल आते ही उसकी आँखें फैल गईं। सारे शरीर मे मानो एक तूफान आ गया। अतीत और गहराकर सामने आ गया। वही अतीत जिससे वह भागना चाहता है, जिससे वह पीछा छुड़ाना चाहता है।

"अरे ! तुम यों चुपचाप अकेले बैठे हो ?" चौकीदार ने आकर उसका ध्यान भग किया, "खाना तैयार है, चलो।"

वह खाने के लिए चल देता है। ठीक ऐसे ही कल भी वह गया था।

कल ही प्रोबेशन अफसर ने उससे पूछा था, "बेटे, तुम्हारा नाम क्या है?"

उसे पहली बार लगा था, कोई उसके प्रति आत्मीय भी हो सकता है। इस महानगर मे इससे पहले उसने आत्मीयता और प्यार की सारी आशाएँ छोड दी। महानगर मे किसे फुरसत है किसी से प्यार जताने और आत्मीयता दिखाने की। उसने सकुचाते हुए अपना नाम बता दिया।

"तुम्हारे पिता का नाम?"

"वंशीलाल।"

"माँ···?"

"माँ का नाम नही मालूम।"

"कोई बात नही।···हाँ तो बेटे, कहाँ के रहने वाले हो तुम?"

"बड़ा नगर।"

"और तुम्हारी उम्र?"

"ठीक नही मालूम।"

"अंदाज से।"

"सोलह-सत्रह साल।"

इसके बाद भी उससे कई सवाल पूछे गए थे। हर सवाल के साथ उसके सामने एक चित्र उभरता। हर सवाल का जवाब वह कभी निर्भीक होकर देता, कभी सकोच से। लेकिन दिया उसने हर सवाल का जवाब था। ओह! उससे कितने प्यार से बातें की थी इस शख्स ने।

वह अब खाने के कमरे मे पहुँच गया था। उसकी उम्र के या उसकी उम्र के आसपास के और भी लड़के कमरे में थे। कुछ चुपचाप थे, शायद नए आए थे, लेकिन ज्यादातर शोर मचा रहे थे, जैसे वे सुधारगृह मे नही, घर में हों, अपने ही घर में।

खाना खाकर वह फिर वही लौट गया। खाना खाते वक्त लड़कों की भीड़ और शोर मे वह पिछली घटनाओ को भूल गया था। लेकिन अब पिछली घटनाएँ फिर याद आ रही थी। उसने सिर झटक कर इन घटनाओं से मुक्ति पानी चाही, लेकिन नही, उसे मुक्ति नही मिली। कुछ दिन पहले उसने एक फिल्म देखी थी। उस फिल्म की तरह दृश्य और घटनाएँ उसके

सामने आ रही थी। बीते वक्त की रील खुलती जा रही थी, खुलती जा रही थी···

दिल्ली से रामचन्दर बहुत दिन बाद घर आया था। घर वालों के लिए वह रंगीन कपड़े और पास-पड़ोस के लड़कों के लिए रंगीन सपने लाया था। उसे भी रामचन्दर ने रंगीन सपना दिखाया था। दिल्ली एक बड़ा शहर, खूब बड़ा शहर, रात मे जहाँ-तहाँ झिलमिलाती रंगीन रोशनियाँ, गाँव की तरह मिट्टी के तेल की टिमटिमाती कुप्पियाँ नही···मनचाहे आजादी से रात-दिन घूमो, गाँव की तरह बूढ़े बाप की डाँट-फटकार नही···चाहे जिस सवारी से जाओ—बस, टैक्सी, स्कूटर और न जाने क्या-क्या, गाँव की छकड़ा बैलगाड़ी नही···उसका मन दिल्ली का वर्णन सुन चंचल हो उठा था।

"दिल्ली मे एक बहुत बड़ी मीनार है, जिसका नाम है कुतुबमीनार। यहाँ तो कोई पेड़ भी उसकी एक चौथाई ऊँचाई के बराबर न होगा," रामचन्दर ने कहा था।

"अच्छा।" कहते हुए उसकी आँखो की पुतलियाँ क्षण-भर को ठहर गई थी।

"और दिल्ली मे बहुत बड़ा गेट है, जिसका नाम है इण्डिया गेट। राष्ट्रपति दिल्ली मे रहते है और हाँ, प्रधान मंत्री भी। वहाँ एक बड़ा-सा किला भी है···।"

और न जाने क्या-क्या बताया था रामचन्दर भाई ने दिल्ली के बारे मे। ऐसी जादुई और अजीबोगरीब दिल्ली देखने के लिए तड़प उठा था वह।

"मुझे भी ले चलोगे दिल्ली, रामचन्दर भाई?" उसने विनती करते हुए कहा था।

"क्यो नही।" उसे ठीक से याद है, रामचन्दर भाई ने यही कहा था, "लेकिन तुम्हे अपने खर्चे का इंतजाम करना होगा।"

खर्चा? वह एकाएक सोच मे पड़ गया था। खर्चा कहाँ से आएगा?

लेकिन रामचन्दर के लौटने के कुछ दिन पहले इसका भी इन्तजाम हो गया था।

उसने एक बार फिर अपने अतीत को, अतीत की अप्रियकर घटनाओं को भुलाने की कोशिश की, लेकिन नहीं भुला सका। वह जितना भुलाने की कोशिश करता, बीता हुआ जीवन उतना ही पर्त-दर-पर्त खुलता चला जाता, मानो तेज हवा में किताब के पन्ने पीछे की ओर अपने आप पलट रहे हों।

उसने रामचन्दर भाई को अपनी योजना बताई थी और पूछा था, "इतने रुपयों से काम चलेगा?"

"हाँ, चल जाएगा।" रामचन्दर ने कहा था, "फिर मैं तो हूँ ही। रहने-खाने का खर्चा करने का तो सवाल ही नहीं। रहेगा और खाएगा तो तू मेरे ही यहाँ।"

वह रामचन्दर भाई के प्रति तब श्रद्धानत हो उठा था? 'ओह राम-चन्दर भाई, तुम कितने अच्छे हो।' उसने मन ही मन कहा था। लेकिन उस दिन जो रामचन्दर उसे दिल्ली स्टेशन पर छोड़कर गायब हो गया था, वह क्या सचमुच महान था? उस रोज जब वह रामचन्दर भाई के प्रति श्रद्धा-नत हुआ था, उसे अपने बूढ़े पिता से एकाएक नफरत हो उठी थी। उसे लगा था, दिल्ली पहुँच कर वह पिता की क्रूर नजरों से दूर हो जाएगा। उसे लगा था, दिल्ली पहुँचकर पिता की डाँट से वह सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाएगा। लेकिन उस रोज रामचन्दर उसे अकेला दिल्ली स्टेशन पर छोड़-कर लापता हो गया था, तब पिता के प्रति उसके मन में सहसा अगाध प्रेम-प्यार उमड़ पड़ा था। अपने ही गाँव के, अपने ही पड़ोसी रामचन्दर ने उसे कितना धोखा दिया था। कल प्रोबेशन अफसर के सामने रामचन्दर का नाम लेते हुए उसके मन में हिंसा की आग बेतरह सुलग उठी थी।

"तुम्हें गाँव से दिल्ली कौन लाया था?" प्रोबेशन अफसर ने उससे पूछा था।

"हमारे गाँव का, हमारा पड़ोसी रामचन्द्र," उसने कहा था, और वह प्रोबेशन अफसर के पूछे बिना खुद ही बोल उठा था, "उसने मुझे धोखा दिया। जब मेरे रुपये खत्म हो गए तो वह मुझे स्टेशन पर अकेला छोड़ खुद लापता···।"

प्रोबेशन अफसर ने रामचन्दर का पता उससे पूछा था कि उसने रुपयों

का इंतजाम कैसे किया था।

"बहन की शादी के लिए बापू ने जमीन बेचकर दो हजार रुपया पुरानी अटैची मे डाल दिया था। मैंने बापू को रुपया अटैची में डालते देखा था। मुझसे अटैची का ताला नही खुला तो मैं एक रात अटैची लेकर ही रामचन्दर के साथ चल दिया था।" बताते हुए वह कांप उठा था। इतनी कच्ची उम्र मे इतना बडा जुर्म उसने पहले कभी नही किया था। जिस समय उसने अटैची उठाई थी। बूढ़ा पिता नीद के नशे मे बेहोश था। अटैची उठाते समय एक बार अँधेरे में उसका हाथ कांप गया था लेकिन क्षण-भर में ही उसने अपने को सँभाल लिया था। अटैची उठाते समय एक बार वह अन्दर ही अन्दर डगमगाया था, लेकिन फिर अटैची को मजबूती से पकड वह तेज़ी से बाहर निकल आया था। यौवन की देहरी की ओर बढ़ते उस किशोर के मन मे एक बार सुकुमार बहन की शादी का ख्याल आया था, लेकिन दूसरे ही क्षण रगीन रोशनियों मे झिलमिलाती अपनी विशाल बाँहे फैलाये दिल्ली की रगीनी में वह खो गया था। बूढे पिता का जर्जर चेहरा एक बार अँधेरे में भी उसे साफ दिखाई दिया था, लेकिन दूसरे ही क्षण वह कमरे के द्वार उढका कर रगो के प्रकाश मे झिलमिलाती दुनिया की खोज में निकल पडा था।

घर से कुछ दूरी पर रामचन्दर भाई उसकी प्रतीक्षा कर रहा था और वह रामचन्दर भाई के साथ हो लिया था।

दोनों ने कुछ दूर का सफर मोटर से तय किया था और फिर पटरियो पर भागती रेलगाडी उन्हे दिल्ली ले आई थी—अँधेरे मे खोए हुए, टिम-टिमाती रोशनी के धब्बों मे डूबे हुए गाँव से दूर एक जगमगाती, झिल-मिलाती दुनिया मे, जहाँ कोई भय न था, किसी की गुलामी न थी।

और सचमुच रेलवे स्टेशन पर उतर वह एक नई दुनिया मे पहुँच गया था। गाँव के मेले से भी ज्यादा आकर्षक और रगीन दुनिया। भीड···भीड ···और भीड़। हर तरफ भीड। वह एकाएक घबरा उठा था और उसने कस कर रामचन्दर भाई का हाथ पकड़ लिया था और अटैची रामचन्दर के हाथ में थमा दी थी।

"जरा सँभल कर चलना," रामचन्दर ने कहा था, "यहाँ मिनट-भर में

पाकेट मारी जाती है, सामान लुट जाता है, चोर-उचक्के नये आदमी को मिनट-भर में ताड़ जाते हैं। यहाँ जो जितना शरीफ दिखता है, वह समझ लो कि उतना ही बदमाश है···यहाँ तुम अपने साथी पर भी यकीन नहीं कर सकते।"

उसने और कस के रामचन्दर भाई का हाथ थाम लिया था।

रामचन्दर उसे स्कूटर में घर ले गया था। इतनी तेज़ भागने वाली तीन पहियों की सवारी में वह पहले कभी नहीं बैठा था। वह डर रहा था कि कहीं स्कूटर टकरा न जाए। रामचन्दर ने उसके भय को भाँप लिया था। उसने कहा था, "डरो मत।" फिर उसने बगल में गुज़रती टैक्सी की ओर इशारा करते हुए कहा था, "यहाँ और भी तेज सवारियाँ हैं। टैक्सी में तुम्हें फिर कभी बैठायेंगे।"

उसे याद है, वह इसके बाद कई बार टैक्सी में बैठकर इधर-उधर गया था। रामचन्दर भाई ने उसे टैक्सी में ले जाकर चिड़ियाघर दिखाया था, झिलमिलाते रुपहले पर्दे पर फिल्म तो कई बार दिखाई थी और हाँ, कुतुब-मीनार देखने भी वह टैक्सी पर ही गया था। लेकिन फिर धीरे-धीरे बस का सिलसिला शुरू हो गया था···धीरे-धीरे अटैची में नोट घटने लगे थे···धीरे-धीरे रामचन्दर उसके लिए पराया और बेगाना होने लगा था।

कल जो रामचन्दर उसे अटैची के साथ स्टेशन छोड़ गया था, वह उसके गाँव का पड़ोसी रामचन्दर नहीं था, वह कोई बेगाना रामचन्दर था। और अब अटैची एकदम खाली हो गई है।

उसने अटैची की ओर नजर डाली जो एक कोने में पड़ी अपनी कहानी कह रही थी। वह सिसक पड़ा और आँखों से बहते हुए आँसू गालों पर उतर आए। उसे लगा, पिता के चेहरे पर कुछ और झुर्रियाँ आ गई है, माँ कुछ और बूढ़ी हो गई है और बहन को ले जाने के लिए बारात आई थी लेकिन दरवाजे से ही लौट गई है···।

वह खाली अटैची को देख रहा है और देखता जा रहा है, देखता जा रहा है और कभी उसके सामने माँ आ खड़ी होती है तो कभी पिता, कभी बहन, कभी रामचन्दर, कभी गाँव-देहात की निश्छल दुनिया और कभी

झिलमिलाता महानगर दिल्ली। वह सोच रहा है, महानगर में पहुँच कर गाँव-देहात का पड़ोसी भी बेगाना हो जाता है, कैसा अजीब है यह महानगर। उसका किशोर मन समझ नही पा रहा है कि महानगर मे आखिर ऐसा क्यो हो जाता है? क्यो महानगर की झिलमिलाती दुनिया मे लोग अधे हो जाते है? क्यो गॉव-पडोस का रामचन्दर महानगर मे पाकेट-मार बन जाता है? उसे याद आ रहा है, उस रोज जब वह दिल्ली आया था, रामचन्दर ने उससे कहा था, "जरा सँभल कर चलना, यहाँ मिनट-भर मे पाकेट मारी जाती है ''जो जितना शरीफ दिखता है, वह उतना ही बदमाश''''''
यहाँ तुम अपने साथी पर भी'''और घर ले जाकर रामचन्दर ने उससे डेढ हजार रुपये ले लिए थे, "इन्हे तुम मेरे पास रख दो। जब पाँच सौ खत्म हो जाएँ तब'''वैसे पाँच सौ भी तुम्हें नही रखने चाहिए। क्या पता कही कोई पाकेट मार ले। बाहर दस-बीस ही लेकर निकलना'''हाँ।"

ये डेढ हजार उसे फिर कभी वापस नही मिले थे। उन पाँच सौ और इन डेढ हजार रुपयो मे लिपटे माँ, बाप और बहन के सपने महानगर की सडको और रामचन्दर की जेब मे समा गए थे।

उसे लगता है, ठीक ही कहा था रामचन्दर ने कि यहाँ तुम अपने साथी पर भी यकीन मत करना। जो जितना शरीफ नजर आता है, वह'''

और एक बार फिर फिल्म फ्लैशबैक की तरह उसकी आँखो के सामने माँ, बहन और पिता के चेहरे उभर आए है। 'ओह! क्या यह बहन ही है,' वह सोच रहा है। 'यह इतनी बूढी कैसे दीखने लगी?' वह अपने से ही पूछता है, लेकिन उसे उत्तर नही मिल पा रहा। कोने मे अब भी खाली अटैची पहले की ही तरह पड़ी है।

पाकेट मारी जाती है, सामान लूट जाता है, चोर-उचक्के नये आदमी को मिनट-भर में ताड़ जाते हैं। यहाँ जो जितना शरीफ दिखता है, वह समझ लो कि उतना ही बदमाश है···यहाँ तुम अपने साथी पर भी यकीन नहीं कर सकते।"

उसने और कस के रामचन्दर भाई का हाथ थाम लिया था।

रामचन्दर उसे स्कूटर में घर ले गया था। इतनी तेज भागने वाली तीन पहियों की सवारी में वह पहले कभी नहीं बैठा था। वह डर रहा था कि कहीं स्कूटर टकरा न जाए। रामचन्दर ने उसके भय को भाँप लिया था। उसने कहा था, "डरो मत।" फिर उसने बगल से गुजरती टैक्सी की ओर इशारा करते हुए कहा था, "यहाँ और भी तेज सवारियाँ हैं। टैक्सी में तुम्हें फिर कभी बैठायेंगे।"

उसे याद है, वह इसके बाद कई बार टैक्सी में बैठकर इधर-उधर गया था। रामचन्दर भाई ने उसे टैक्सी में ले जाकर चिड़ियाघर दिखाया था, झिलमिलाते रुपहले पर्दे पर फिल्म तो कई बार दिखाई थी और हाँ, कुतुब-मीनार देखने भी वह टैक्सी पर ही गया था। लेकिन फिर धीरे-धीरे बस का सिलसिला शुरू हो गया था···धीरे-धीरे अटैची में नोट घटने लगे थे···धीरे-धीरे रामचन्दर उसके लिए पराया और बेगाना होने लगा था।

कल जो रामचन्दर उसे अटैची के साथ स्टेशन छोड़ गया था, वह उसके गाँव का पड़ोसी रामचन्दर नहीं था, वह कोई बेगाना रामचन्दर था। और अब अटैची एकदम खाली हो गई है।

उसने अटैची की ओर नजर डाली जो एक कोने में पड़ी अपनी कहानी कह रही थी। वह सिसक पड़ा और आँखों से बहते हुए आँसू गालों पर उतर आए। उसे लगा, पिता के चेहरे पर कुछ और झुर्रियाँ आ गई हैं, माँ कुछ और बूढ़ी हो गई है और बहन को ले जाने के लिए बारात आई थी लेकिन दरवाजे से ही लौट गई है···।

वह खाली अटैची को देख रहा है और देखता जा रहा है, देखता जा रहा है और कभी उसके सामने माँ आ खड़ी होती है तो कभी पिता, कभी बहन, कभी रामचन्दर, कभी गाँव-देहात की निश्छल दुनिया और कभी

झिलमिलाता महानगर दिल्ली। वह सोच रहा है, महानगर में पहुँच कर गाँव-देहात का पड़ोसी भी बेगाना हो जाता है, कैसा अजीब है यह महानगर। उसका किशोर मन समझ नहीं पा रहा है कि महानगर में आखिर ऐसा क्यों हो जाता है? क्यों महानगर की झिलमिलाती दुनिया में लोग अंधे हो जाते हैं? क्यों गाँव-पड़ोस का रामचन्दर महानगर मे पाकेट-मार बन जाता है? उसे याद आ रहा है, उस रोज जब वह दिल्ली आया था, रामचन्दर ने उससे कहा था, "जरा सँभल कर चलना, यहाँ मिनट-भर में पाकेट मारी जाती है ''जो जितना शरीफ दिखता है, वह उतना ही बदमाश''''''यहाँ तुम अपने साथी पर भी'''और घर ले जाकर रामचन्दर ने उससे डेढ़ हजार रुपये ले लिए थे, "इन्हे तुम मेरे पास रख दो। जब पाँच सौ खत्म हो जाएँ तब'''वैसे पाँच सौ भी तुम्हे नही रखने चाहिए। क्या पता कहीं कोई पाकेट मार ले। बाहर दस-बीस ही लेकर निकलना'''हाँ!"

ये डेढ़ हजार उसे फिर कभी वापस नहीं मिले थे। उन पाँच सौ और इन डेढ़ हजार रुपयों मे लिपटे माँ, बाप और बहन के सपने महानगर की सड़कों और रामचन्दर की जेब में समा गए थे।

उसे लगता है, ठीक ही कहा था रामचन्दर ने कि यहाँ तुम अपने साथी पर भी यकीन मत करना। जो जितना शरीफ नजर आता है, वह'''

और एक बार फिर फिल्म फ्लैशबैक की तरह उसकी आँखों के सामने माँ, बहन और पिता के चेहरे उभर आए हैं। 'ओह! क्या यह बहन ही है,' वह सोच रहा है। 'यह इतनी बूढ़ी कैसे दीखने लगी?' वह अपने से ही पूछता है, लेकिन उसे उत्तर नहीं मिल पा रहा। कोने मे अब भी खाली अटैची पहले की ही तरह पड़ी है।

गिरोह

श्रीमती सुप्रिया चौधरी अखबार लेकर बैठी थी। पति दफ्तर जा चुके थे। घर के काम-काज से मुक्ति पाकर श्रीमती चौधरी अखबार जरूर देखती है। अखबार पढने की उन्हे लत है। यह क्रम वर्षो से चला आ रहा है। श्रीमती चौधरी जब विश्वविद्यालय मे पढ़ती थी, यानी जब वह कुमारी सुप्रिया थी, तो रोज सवेरे उठते ही होठों पर चाय का प्याला होता था और आँखो के सामने अखबार। अखबार पढने की वह आदत अब भी नही छूटी है, बस समय बदल गया है।

श्रीमती चौधरी अन्य महिलाओ से भिन्न है। वह सामान्य गृह-स्वामिनियो की तरह नही। वह होठो पर लिपस्टिक जरूर लगाती है। बालो पर 'पफ' बनाने का उन्हे शौक है। नए से नए फैशन की साड़ियाँ और मैचिंग ब्लाउज आए दिन खरीदती रहती है। फिल्मो मे उनकी खास रुचि है। यानी सामान्य पत्नियो की सभी आदते और लते उनमे हैं, पर वे दुनिया की हलचलो से भी परिचित रहती हैं।

आज पहले पन्ने पर कोई खास खबर नही थी। ससद मे किसी मंत्रालय की बजट-माँगो पर बहस, पाकिस्तान के राष्ट्रपति का भाषण, ब्रिटिश प्रधानमंत्री का विदेशो का दौरा। श्रीमती सुप्रिया चौधरी उठी और पखे की गति थोडी बढा दी। फिर उन्होंने पन्ना पलटा और सीधे तीसरे पन्ने पर नजर डाली। इस पन्ने पर भी वही उबाने वाली खबरें। शहर के किसी भवन का शिलान्यास और किसी स्थानीय नेता का भाषण। श्रीमती चौधरी बोर होकर अखबार रखने ही वाली थी कि उनकी नजर एकदम नीचे एक शीर्षक पर अटक गई—'बच्चे भगाने वालो के गिरोह का पता चला।' श्रीमती सुप्रिया चौधरी एकाएक चौक उठी। उन्होंने बरामदे

की ओर नजरें डाली। बेटी अजया बैठी थी, चुपचाप। उन्होंने अभी खबर नही पढ़ी थी, बस केवल शीर्षक देखा था और उन्हें एकाएक कुछ याद आ गया था···

उस घटना को हुए अभी मुश्किल मे तीन महीने भी नही बीते है। तीन महीने की अवधि भला कौन बड़ी लम्बी होती है। बमुश्किल नब्बे-बानबे दिन। नब्बे-बानवे दिन मे कोई किसी घटना को भूल सकता है भला? और फिर घटना जब स्वयं उसी से जुड़ी हो। यही क्यो वल्कि असाधारण भी हो, बेहद असाधारण।

सोमवार था शायद उस दिन। मिस्टर चौधरी दफ्तर जा चुके थे। श्रीमती सुप्रिया चौधरी घर पर अकेली ही थी। तभी वह घटना हुई जिसकी याद ने उन्हें बेतरह चौंका दिया है।

यही कोई बारह-साढे बारह बजे का समय होगा। आसपास तमाम लोगो की भीड इकट्ठी हो गई थी। श्रीमती चौधरी अपनी नई साड़ी की तरफ से लापरवाह थी। वह उस लड़की को हाथ पकड़कर घसीट रही थी। वह लडकी अपनी पूरी ताकत से हाथ छुड़ाने की कोशिश कर रही थी और चीख रही थी। चीख रही थी, "परसा रे, अरे ओ परसा! छुड़ाता क्यों नही? देख, कौन कमीनी मुझे पकड़े लिए जा रही है।"

श्रीमती चौधरी को याद है, अच्छी तरह याद है, यही कहा था उसने यही—कमीनी।

वह चीखी थी, "पकडो, पकडो!"

लेकिन जब तक लोग पकड़ने दौडते, वह भाग चुका था। औरतें समझ नही पा रही थी कि यह क्या हुआ? श्रीमती सुप्रिया चौधरी को यह क्या हो गया? अच्छी-भली सुप्रिया चौधरी आखिर एकाएक बदहवास क्यों हो गई हैं? वह पागलों की तरह उस गन्दी भिखारी लड़की का हाथ क्यों घसीट रही हैं?

श्रीमती चौधरी अपने मेकअप की तरफ से असावधान हो गई थी। साड़ी का एक छोर जमीन पर आ गया था। लेकिन उन्हें कोई परवाह नही थी। वह लडकी का हाथ पकड़े हुए थी और वह चीख रही थी, "अरे

कहाँ गया रे परसा ! छुड़ाता क्यों नही ? शाम को सारा सामान और पैसे गिन कर टेंट मे कर लेगा···कौन हरामजादिन है जो···।"

श्रीमती सुप्रिया चौधरी इस बार नही रह सकी थी। उन्होंने पूरी ताकत से एक भरपूर थप्पड़ उसके गाल पर जड़ा और आवाज थम गई थी। वह समझ नही पा रही थी कि कोई क्यो पकड़कर ले जा रहा है।

लेकिन श्रीमती चौधरी जानती थी कि उन्होंने उसे क्यों पकड़ा है ? क्यो ?

श्रीमती चौधरी की आंखो के सामने से वह दृश्य अब भी ओझल नही हुआ है। ओझल हो भी कैसे, सिर्फ तीन महीने हुए हैं। फिर इस दृश्य को तो वह जीवन-भर नही भूल सकती।'' और इस खबर ने तो जैसे सारा दृश्य, पर्त-दर-पर्त, उनके सामने खोलकर रख दिया है, जैसे सिनेमा की रील खुलती है।

अखबार मे बहुत छोटा-सा शीर्षक है—'बच्चे भगाने वालों के गिरोह का पता चला।' शायद आम पाठको के लिए उसका कोई महत्त्व न हो। शायद आम पाठक उसे बस एक नजर देखकर पृष्ठ पलट गए हों या उन्होंने किसी और समाचार पर नजरें जमा दी हो। पर सुप्रिया ? सुप्रिया चौधरी उस समाचार को गौर से पढ़ने लगी, एक-एक अक्षर ध्यान से देखने लगी। प्रकाशित खबर के अनुसार, घटना दिल्ली के एक अस्पताल की थी। एक महिला अपनी नन्ही इकलौती पुत्री के साथ किसी बीमार सम्बन्धी से मिलने अस्पताल पहुँची। पति ने कहा था कि वह दफ्तर से सीधे अस्पताल पहुँच जाएगा। मिलने वालों के लिए वार्ड में जाने का समय अभी नही हुआ था। महिला अस्पताल के बरामदे मे एक बेंच पर बैठ गई। उसने सोचा, चलो अच्छा है, तब तक पति भी आ जाएगा। पास ही मे उसकी नन्ही बेटी खेल रही थी। आस-पास कुछ और लोग भी थे। एक युवा दम्पति इस महिला की नन्ही बिटिया से खेल करने लगा। कुछ ही देर मे मिलने के लिए जाने का समय हो गया। महिला ने अपनी बिटिया को आवाज दी, लेकिन उसे कोई उत्तर नही मिला। उसने इधर-उधर देखा। पुत्री कही नही दिखाई पड़ी। वह युवा दम्पति भी वहाँ नही था। महिला घबरा उठी। उसने शोर मचाया लेकिन शोर से क्या होता। तभी उसके पति भी पहुँच गए। दोनों

ने इधर-उधर खोज-खबर की, अस्पताल के कुछ चपरासी वगैरह भी आ गए, लेकिन उनकी नन्ही पुत्री कही नही दिखाई दी। युवा दम्पति भी गायब। दोनों ने बिना किसी देरी के तुरन्त ही पास के पुलिस थाने मे रिपोर्ट की और···।

श्रीमती सुप्रिया चौधरी को याद है। बहुत पुरानी याद है वह। उनकी गुडिया जैसी बिटिया एक दिन एकाएक लापता हो गई थी। लापता हुई नही थी, लापता कर दी गई थी। बहुत खोजा, पुलिस मे रिपोर्ट भी लिखाई, 'गुमशुदा की तलाश' का विज्ञापन भी छपवाया, लेकिन कोई फायदा नही हुआ। गुड़िया जैसी नन्ही बिटिया नही मिली थी। दोनो पति-पत्नी निराश हो गए थे।

श्रीमती चौधरी ने कुछ दिन तक खाना-पीना छोड दिया था, लेकिन फिर धीरे-धीरे जीवन-क्रम सामान्य बनाना पडा था। वह इस दु:खद प्रसग को भूल जाना चाहती थी। नन्ही बिटिया के सारे कपड़े उन्होंने महरी और जमादारनी को दे दिए थे। उसकी याद का हर प्रतीक मिटा दिया था। उसका फोटो भी फाड़ दिया था। लेकिन याद थी कि सताती रहती थी। श्रीमती सुप्रिया चौधरी नई साडी पहनती तो लगता जैसे गुड़िया जैसी नन्ही बिटिया पाँवो मे लिपट गई है, गोद मे आने को मचल रही है। श्रीमती चौधरी दर्पण के सामने शृगार करती तो नन्ही बिटिया का प्रतिबिम्ब न जाने कहाँ से उभर उठता।

आखिर हार कर मिस्टर चौधरी ने एक दिन दूसरे शहर बदली करा ली थी। इस शहर में आकर श्रीमती सुप्रिया चौधरी ने नन्ही गुडिया की याद को काफी हद तक भुला दिया था। लेकिन तभी एक दिन यह घटना हो गई···

बस्ती की अन्य महिलाएँ हैरान थी कि आखिर श्रीमती चौधरी को हो क्या गया? श्रीमती चौधरी जानती थी कि उन्हें क्या हुआ है। वह हाथ पकड कर भिखारी लडकी को अपनी ओर घसीट रही थी। और लड़की, जो थप्पड खाकर कुछ सहम गई थी, फिर पूरे जोर मे चीख रही थी, "अरे कहाँ गया रे? कहाँ गया रे परसा?···हरामी, कहाँ गया तू? बोलता क्यों नही?"

लड़की पूरी ताकत से चीख रही थी और पूरी ताकत से छूटने की कोशिश कर रही थी, पर असमर्थ थी। उसने एक निहायत मैली और घिनौनी फ्रॉक पहनी हुई थी, जो सीने पर से फटी हुई थी। फरवरी की दोपहर और ठंड पड रही थी। लड़की चीख रही थी और काँप रही थी। उसके हाथ मे जगह-जगह से पिचका हुआ अल्मीनियम का कटोरा था और बगल मे गदा-सा थैला था जिसमे आटा रखा जाता था और जिसे बेच कर इस महँगाई के जमाने मे भिखारियो का गिरोह अच्छी रकम बना लेता था।

श्रीमती सुप्रिया छोटे से शीर्षक के नीचे छपी खबर को बड़े मनोयोग से पढ़ रही थी। खबर का शेष अश यह था कि युवा दम्पति को गिरफ्तार कर लिया गया था। दोनो उस नन्ही बच्ची को एक टैक्सी मे उड़ा ले गए थे। संयोग से पुलिस की गाडी भी उसी ओर पहुँची, जहाँ टैक्सी गई थी। टैक्सी एक मकान के सामने खड़ी थी जहाँ एक गिरोह इस तरह भगा कर लाए गए बच्चो को खरीदता था। उसके बाद दूसरे शहर के एक और गिरोह के हाथ बच्चे बेच दिए जाते थे। दूसरे शहर का यह गिरोह इन बच्चो को भीख माँगने की ट्रेनिंग देता था···

इस लडकी को भी भीख माँगने की ट्रेनिंग दी गई थी। लेकिन परसा इस लडकी के साथ अब भी रोज सुबह-शाम रहता था। लोग भिखारी लड़की को ठड से काँपते देख पैसे या कपड़े दे दिया करते थे। श्रीमती चौधरी ने भी ऐसे भिखारी बच्चो को बीसियों बार आटा, कपड़ा और पैसा दिया था।

परसा जैसे गिरोह के अन्य सदस्य अन्य बच्चों के साथ रहते थे। बच्चों पर नियत्रण रखने और उनकी दिन-भर की कमाई वसूल करने के लिए ऐसा करना जरूरी था। जब कुछ समय बाद बच्चे अपने काम मे पूरी तरह माहिर हो जाते और उनके भाग निकलने का कोई डर न रहता तो उन्हे अकेला ही छोड दिया जाता।

धूप अच्छी-खासी थी लेकिन जाड़ा पड़ रहा था, फरवरी का जाड़ा।

भिखारी लड़की चीख रही थी और कॉप रही थी। दरअसल उसे जान-बूझ कर अधिक कपड़े नहीं दिए गए थे। वैसे पिछले दिन ही वह तीन स्वेटर भीख मे पा चुकी थी, जिन्हें आज सुबह परसा ने दस रुपए मे बेचा था।

लड़की कॉप रही थी। हाथ छुड़ाने की कोशिश कर रही थी। श्रीमती सुप्रिया चौधरी बदहवास थी। किंतु उनकी पकड़ ढीली नही हुई थी।

छोटे से शीर्षक के नीचे छपी खबर का अंतिम पैरा यह था कि गिरोह अब तक दर्जनों बच्चो को उड़ा चुका था। उड़ाए गए बच्चे दूसरे शहरों मे अन्य गिरोहो के हाथ बेचे जा चुके थे। इन गिरोहों ने इन दर्जनो बच्चों को भिखारी बना दिया था। किसी बच्चे को लँगड़ा कर दिया था तो किसी को लूला। किसी की जबान काट दी गई थी तो किसी को···

श्रीमती चौधरी जैसे एकाएक बेहोश-सी होने लगी। उन्हे लगा वह कॉप रही हैं। एक दहशत है जो उन पर हावी होता जा रही है।

"किसी की जबान काट दी गई थी तो किसी को···" समाचार का अंतिम वाक्यांश वह पूरा नही पढ पाईं। अखबार हाथ से छूट गया और आँखो के आगे अँधेराछा गया। पर उस निपट अँधेरे मे भी वह दृश्य उनके सामने से हटा नही। पर्त-दर-पर्त खुलता चला गया, खुलता चला गया···

लड़की मार खाकर चीखना बद कर चुकी थी। उसके हाथ का कटोरा गिर गया था। कटोरे में पड़े पैसे कब के झनझना कर इधर-उधर बिखर गए थे और सुप्रिया चौधरी उसे घसीटते हुए अंदर ले आई थी। उनकी बेटी अजया इतने वर्ष बाद उन्हें मिली थी।

एकाएक वह सजग हो गईं। आँखों के आगे से अँधेरा हट गया। अजया को वह अब एक क्षण भी अपनी नजरों से ओझल नहीं होने देंगी। उन्होंने बरामदे की ओर देखा, अजया चुपचाप बैठी थी।

जमीन पर पड़े अखबार के उस शीर्षक के नीचे छपे समाचार का अंतिम वाक्यांश था, "किसी की जबान काट दी गई थी तो किसी को अंधा बना दिया गया था।"

श्रीमती चौधरी की लाडली बेटी अजया बरामदे में चुपचाप बैठी थी, चुपचाप और आँखो से लाचार।

एक पड़ाव और

वहां के वातावरण मे शांति है। शोर थम गया है। उसके मन में जो भयंकर तूफान उठा हुआ था, वह अब शांत हो गया है, और वह सोच रही है, अब एक नए सिरे से जिन्दगी शुरू होगी। दूसरे ही क्षण उसके मन में प्रश्न उठ खड़ा होता है, क्या सचमुच यहाँ रहकर एक नए सिरे से जिन्दगी शुरू हो सकेगी? या...

अनायास पिछली जिन्दगी याद आने लगती है श्यामा को। न चाहकर भी गुजरे हुए दिन एक-एक करके उभर आते हैं। गुजरी हुई जिन्दगी के इतिहास से मुक्ति मिलेगी क्या उसे? इस प्रश्न का उत्तर उसके पास नहीं है। उसे लगता है, एक अथाह समुद्र है जिसमें वह डूबती चली जा रही है। हाँ, वह सारी स्थिति डूब जाने की ही तो थी, आकंठ डूबते चले जाने और फिर तड़पते रहने की स्थिति। ऐसी स्थिति से कौन मुक्त हो सकता है भला!

यह सब कितनी जल्दी हो गया—सिर्फ एक साल में ही। हाँ, सिर्फ एक साल मे ही।

वह उन दिनों बड़ी बहन अनुराधा के साथ रह रही थी। बस, केवल वे दो ही थे, चितपुर रोड की उस अकेली अँधेरी कोठरी में। कोठरी—जहाँ कभी सूरज की रोशनी नहीं पहुँची थी। कोठरी—जहाँ से किसी दिन आसमान नहीं दिखाई दिया था। उस महानगर मे ऐसी कितनी ही कोठरियाँ थीं और ऐसी कितनी ही श्यामाएँ और अनुराधाएँ थीं जो इन कोठरियों में रहती थीं। बड़ी बहन अनुराधा अक्सर कहती थी, "श्यामा, यह कोठरी हम दोनों का दम घोट देगी। हम दोनों जीते जी इस कोठरी में मर जाएँगे। तपेदिक से या और किसी बीमारी से घुल-घुल कर मर जाएँगे।"

उसने केवल तपेदिक का नाम भर सुना था। सुना था कि हिन्दुस्तान में हर साल सैकड़ों मौतें तपेदिक से होती हैं। लेकिन खुद उसने तपेदिक से मरते किसी को नहीं देखा था। कई बार उत्सुकता हुई थी मन में जानने की, कि आखिर यह तपेदिक होता क्या है? आखिर इस बीमारी में आदमी घुल-घुलकर मरता कैसे है? बड़ी बहन, बस, केवल तपेदिक का नाम ही लेती थी, उसे कभी हुआ नहीं था तपेदिक। उसके होंठों पर सदा एक मुस्कान खेलती रहती थी।

और शायद यही मुस्कान थी जिसने चरण को उसकी ओर आकृष्ट किया था। चरण कहाँ रहता था, उसे आज तक पता नहीं। उसे पता केवल इतना है कि वह बड़ी बहन अनुराधा के पास आता था। वह कब से अनुराधा के पास आने लगा था, यह भी नहीं पता श्यामा को। उसे केवल इतना पता है कि वह शुरू-शुरू में उसकी अनुपस्थिति में आता था। वह काम पर गई होती और वह आ जाता। तब उसे पता नहीं था कि चरण कौन है? अनुराधा ने भी कभी जिक्र नहीं किया। लेकिन एक दिन उसे पता चल गया। आखिर, ऐसी बातें कितने दिन छिपती हैं भला!

वह फैक्टरी में काम करके बस से घर लौट रही थी। शाम का समय था और वह खिड़की के पास बैठी थी। बस दौड़ रही थी और महानगर भी दौड़ रहा था। लोग घूम रहे थे या घरों को लौट रहे थे। लोग इधर-उधर प्रतीक्षा में खड़े थे या चहलकदमी कर रहे थे। तभी उसे चहलकदमी करती दिखाई दी अनुराधा—बड़ी बहन अनुराधा। अनुराधा अकेली नहीं थी। उसके साथ एक मर्द भी था। और अनुराधा के होंठों पर मुस्कान पहले से अधिक खिल आई थी। उसकी वेणी में सफेद फूल बँधा था, चम्पा का सफेद फूल। बस खड़ी हुई थी और अनुराधा सामने से गुजरती दिखाई दे गई थी। क्षण-भर बाद बस चल दी थी और श्यामा खिड़की से झाँक कर ओझल हो जाने पर अनुराधा को देखती रही थी—अपलक, एकटक। कैसा रोमांच हुआ था उसे। 'कौन होगा दीदी के साथ?' उसने अपने से ही पूछा था।

और इसके बाद एक-एक स्टाप पार करती हुई बस वहाँ आ गई थी, जहाँ उसे उतरना था। बस से उतरकर श्यामा पैदल चितपुर रोड की ओर चल पड़ी। करवटें लेते हुए महासागर की तरह महानगर भी करवटें ले रहा

था। अपार भीड़ बिखरी हुई थी, इधर-उधर। लेकिन इस अपार और अथाह भीड के बीच भी श्यामा के सामने केवल अनुराधा थी—वेणी में चम्पा का फूल लगाए अनुराधा। और साथ वाला मर्द ?

'कौन होगा दीदी के साथ ?' उस शाम अनुराधा के घर आने तक बीसियों बार उसने यह सवाल किया था अपने से। लेकिन अपने से उत्तर कहाँ मिल सकता था।···और उत्तर अनुराधा ने ही कहाँ दिया था। लेकिन सच तो यह है कि उसने अनुराधा से पूछा ही कहाँ था। अनुराधा जब शाम को घर लौटी, तो श्यामा देर तक उसके चेहरे को देखती रही। देखती रही कि कहो कोई परिवर्तन है ? लेकिन नही, अनुराधा के चेहरे मे कही कोई परिवर्तन नही था। श्याम-वर्ण शरीर पर आसमानी रग की सस्ती-सी साडी थी और वेणी मे था चम्पा का श्वेत पुष्प। परिवर्तन था तो, बस, केवल इतना ही। मन हुआ था अनुराधा से पूछ ले, 'दीदी, कौन था, तुम्हारे साथ ?···यह चम्पे का फूल किसने लगाया तुम्हारी वेणी में ?' लेकिन वह बड़ी बहन से यह सब पूछने का साहस नही सँजो पाई थी। कई दिन तक यह सवाल पूछने की इच्छा मन मे जागती रही, लेकिन कभी भी वह नही पूछ सकी। नही पूछ सकी। बड़ी बहन अनुराधा से वह पूछ भी नही सकती थी। लेकिन···

लेकिन कुछ दिन बाद पूछने की जरूरत भी नही रही। उसे अपने आप मिल गया इस प्रश्न का उत्तर। इस बार अनुराधा उस मर्द के साथ महानगर के भीड़-भरे चौराहे पर नही दिखाई दी। दिखाई दी चितपुर रोड की अँधेरी कोठरी मे। श्यामा उस रोज फैक्टरी से जल्दी लौट आई थी। लेकिन, उसे लगा, जल्दी आकर गलती कर दी। बड़ी बहन अनुराधा क्षण-भर के लिए अजीब स्थिति मे फँस गई थी। अँधेरी कोठरी मे वह था और थी अनुराधा। उसके अचानक आ जाने से सहसा चौंक पड़ी थी। और वह भी तो हतप्रभ रह गया था। लेकिन क्षण-भर बाद ही अनुराधा ने सारी स्थिति सँभाल ली थी। आखिर कब तक छिपाए रहती वह ! उसने तुरन्त श्यामा का परिचय करा दिया था चरण से। फिर कुछ देर बाद वह चला गया था।

उसी रात अनुराधा ने श्यामा से कहा था, "देख, श्यामा, मैं अब काम

छोड़ रही हूँ। किसी भी पारी में नहीं जाऊँगी मैं। दास बाबू को बोल देना कल ही।'''और देख, चरण भी अब यहीं आ जाएगा।"

और सचमुच अनुराधा ने दूसरे दिन से काम पर जाना छोड़ दिया था। फैक्टरी में सवेरे की पारी के इंचार्ज रज्जो बाबू से श्यामा ने कह दिया था, "दीदी अब से नहीं आएगी काम पर।"

लेकिन चरण वहाँ नहीं आया। चितपुर रोड की उस अँधेरी कोठरी में नहीं आया था चरण। वह अपने साथ कोठरी से अनुराधा को भी निकाल ले गया था। फिर कुछ दिन बाद अनुराधा ने कहा था, "देख, श्यामा, मैं परसों चरण के साथ जा रही हूँ।"

"कहाँ, दीदी?" श्यामा ने चकित भाव से पूछा था।

"कहीं और। यहाँ से दूर।" अनुराधा ने कहा, "और हाँ, तुझे चिट्ठी लिखूँगी। फिर तू भी आ जाना या मैं तुझे लेने आ जाऊँगी।"

और इतना कहकर दो दिन बाद अनुराधा चली गई थी चरण के साथ। चितपुर रोड की अँधेरी कोठरी और अँधेरी और अकेली हो गई थी। इतना बड़ा शहर और अकेली श्यामा। श्यामा को अब डर लगने लगा उस कोठरी में। फिर एक शाम को वह फैक्टरी से काम करके लौटी, तो ताला खोलते ही दरवाजे पर चिट्ठी पड़ी मिली। अनुराधा की चिट्ठी। अनुराधा ने उसे बुलाया था और लिखा था, "मैं आने की हालत में नहीं हूँ। तू खुद ही आ जा। या इनका कोई साथी तुझे यहाँ ले आएगा।"

और उसी के कुछ दिन बाद एक सवेरे उसके दरवाजे पर कोई अजनबी एक चिट्ठी लिये खड़ा था। सहसा श्यामा चौंक गई। फिर उसने चिट्ठी अपने हाथ में लेकर पढ़नी शुरू की। अजनबी उसे अपलक देखे जा रहा था और वह चिट्ठी पढ़ रही थी। प्रीतम नाम के इस अपरिचित के नाम यह चिट्ठी थी चरण की। चरण ने प्रीतम को लिखा था, वह उसके पास आ रहा है तो अपने साथ अनुराधा की बहन श्यामा को भी लेता आए। श्यामा चिट्ठी पढ़कर क्षण-भर सोचती रही। क्या जाने चिट्ठी जाली हो। लेकिन फिर उसने सोचा, क्या मालूम खुद वही गलत शक कर रही हो। 'और हाँ, गलत ही तो शक कर रही हूँ। चिट्ठी जाली कैसे हो सकती है भला। उस शहर की मुहर है और बहन का नाम है और सबसे बड़ी बात तो यह कि चितपुर रोड

की इस अकेली कोठरी का पता विस्तार से दिया गया है।' वह जैसे-एक साथ अपने से इतनी सारी बातें कह गई। उसने प्रीतम को कोठरी में बैठाया। प्रीतम ने बताया कि चरण की तरह वह भी टैक्सी चलाता है और कल ही जा रहा है।

और दूसरे दिन फैक्टरी में जाते ही श्यामा ने अपनी पारी के इंचार्ज रज्जो बाबू से कह दिया, "हिसाब कर दो, रज्जो बाबू।"

रज्जो बाबू ने नाक पर सरक आई ऐनक ठीक करते हुए श्यामा की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

श्यामा ने फिर कहा, "आपका शहर छोड़ कर जा रही हूँ।"

और इतना कहने के साथ ही चूड़ियों की खनक-सी श्यामा की हँसी चारों ओर बिखर गई। रज्जो बाबू कम बोलते थे। कम बोलते थे और ज्यादा काम करते थे। उन्होंने उसी दिन हिसाब करा दिया श्यामा का।

और उसी दिन चितपुर रोड की अँधेरी कोठरी खाली हो गई। प्रीतम की टैक्सी ने महानगर की भीड़ देखते-देखते पार कर ली। महानगर की भीड़ धीरे-धीरे पीछे छूटती गई और सपाट सड़क पर टैक्सी भागती गई। भागती गई। महानगर पीछे छूटता गया और पीछे छूटती गईं महानगर की स्मृतियाँ। नहीं, स्मृतियाँ नहीं छूटीं। याद आया। एक दिन बड़ी बहन अनुराधा को देखा था भीड़-भरे चौराहे पर—होंठों पर मुस्कान, वेणी में चम्पा का फूल और आसमानी साड़ी और साथ में एक मर्द। बस से झांक कर देखती रही थी वह। देखती रही थी जब तक अनुराधा ओझल नहीं हो गई थी। याद आया, बड़ी बहन कितनी हतप्रभ रह गई थी उस दिन। उस दिन चितपुर रोड की कोठरी में, जहाँ उसके साथ वही मर्द था, वही चरण। चितपुर रोड और अँधेरी कोठरी और भीड़-भरी सड़कें पीछे छूटती गईं। पीछे छूटता गया महानगर और महानगर के साथ जुड़ी अनेक स्मृतियाँ। अब भला क्या करेगी वह इन स्मृतियों का?

लेकिन यही स्मृतियाँ तो हैं जो कचोट रही हैं। ये स्मृतियाँ और इनसे जुड़ी, सिलसिलेवार एक-दूसरे से लगी हुई कुछ और स्मृतियाँ। न जाने क्यों अनायास पिछली जिन्दगी याद आने लगती है। न चाहकर भी गुजरे हुए

दिन एक-एक कर उभर आते है। गुजरी हुई जिन्दगी के इतिहास से मुक्ति मिलेगी क्या उसे? नही, शायद। तभी तो प्रीतम टैक्सी मे बिठाकर उसे किसी अनजानी जगह ले आया। प्रीतम ने कहा, "हमे यही से होकर जाना है।"

जहाँ प्रीतम की टैक्सी रुकी थी, उसके ठीक सामने एक सस्ता-सा होटल था। यहीं ठहरे थे वे लोग। यहीं प्रीतम ने उससे कहा, "आगे का हमारा रास्ता कच्चा है। आगे हम लोग कार से नही जाएँगे, ट्रेन से जाएँगे। शाम को ट्रेन यहाँ से मिलेगी।"

होटल के पास ही रेलवे स्टेशन था। इजनो की शटिंग और गाड़ियों की भाग-दौड़ की आवाज श्यामा को होटल के कमरे तक सुनाई दे रही थी। प्रीतम ने कहा, "तुम यही रहना, मैं कुछ देर मे आता हूँ।" कहकर वह चला गया।

श्यामा ने कमरे की खिडकी से झाँककर देखा। टैक्सियाँ और बसें इधर से उधर भागी जा रही थी। एक बस स्टाप पर लोगों की लम्बी कतार बस के इन्तजार में थी। भीड़ और भीड़, और भीड। यहाँ से जाने का रास्ता कच्चा है? कुछ समझ नहीं पा रही थी वह, महानगर और कच्चा रास्ता?

कुछ ही देर में प्रीतम की आवाज सुनाई दी। वह किसी से बातें कर रहा था। सहसा वह प्रीतम की बातें सुनकर चौक गई। खुद उसके बारे में वह किसी से सौदा कर रहा था। चितपुर रोड की अँधेरी कोठरी से निकाल कर लाया प्रीतम उसे किसी अँधेरी दुनिया में ढकेले दे रहा था। श्यामा को लगा, यह अँधेरी दुनियाँ और भी भयंकर है, चितपुर रोड की अँधेरी कोठरी से भी भयकर। चितपुर रोड की कोठरी में कम से कम उसका सौदा तो नही किया था किसी ने।

उसने दरवाजे की ओर से देखा—किसी के साथ खड़ा था प्रीतम। एक बार वह फिर अन्दर आया उस आदमी के साथ, और फिर लौट गया। लौट गया कहकर, "तुम यही रहना…"

साथ के आदमी ने उसे गौर से देखा। कितनी भयानक थी उसकी आँखें। लेकिन श्यामा ने धीरज का दामन नही छोडा। वह कमरे से बाहर निकलकर होटल की बालकनी से प्रीतम को उस आदमी के साथ जाते

देखती रही।

और जब वे दोनो दूर निकल गए, तो वह भी चुपचाप होटल से बाहर निकल आई। अकेली और चुपचाप निकल आई वह। और उसके कदम तेजी से स्टेशन की विशाल इमारत की ओर बढने लगे। प्रीतम उस आदमी के साथ दूसरी ओर गया था। अपार जन-सागर को चीरती हुई वह तेजी से बढ चली। बस स्टाप पर लोगो की कतार कम नही हुई थी। एक और बस स्टाप पर बस खडी थी। उसका मन हुआ दौडकर बस में चढ जाए। चढ तो जाए, लेकिन फिर जाएगी कहाँ ? कहाँ जाएगी वह ? भटकती फिरेगी शहर मे ? और कही प्रीतम मिल गया, तो ? वह तेजी से लपकती हुई स्टेशन पहुँच गई कि कुछ देर मे गाड़ी पकड़ लेगी। रेलवे स्टेशन पर सहसा एक वृद्धा से भेंट हो गई थी उसकी। शायद वृद्धा ने उसके अजनबीपन को भाँप लिया था। और खुद वह भी तो वृद्धा के चेहरे की निरीहता से आकर्षित हो गई थी। वृद्धा की आँखों मे कैसा सूनापन, कितना अकेलापन तैर रहा था जब उसने कहा था, "अकेली है क्या, बेटी ?"

श्यामा ने धीरे से सिर हिला दिया था। और फिर वृद्धा जैसे एकबारगी फूट पड़ी थी। उसकी आँखों में आँसू तैर आए थे—अनाम व्यथा के आँसू। अकेली जिन्दगी का बोझ ढोते रहने के आँसू। और सच उसने कहा भी तो था, "मैं भी अकेली हूँ, बेटी। आदमी वर्षों पहले गुजर गया। मेरा कोई नही है इस दुनिया में। बस, एक भाई है। उसी को साथ रखे हूँ।" और फिर उसने श्यामा को राजी कर लिया था, अपने साथ चलने को। उसने कहा था, "तू मेरे साथ रहना, बेटी। फिर चाहे कुछ दिन रहकर अपनी बहन से मिलने चली जाना।"

और श्याम राजी हो गई थी।

और अब वह प्रीतम के साथ नही, अकेलेपन का बोझ ढोती वृद्धा के साथ थी—एक गन्दी घिनौनी बस्ती में और यहीं एक दिन वृद्धा ने उससे कहा था, "बेटी, कब तक अकेली जिन्दगी को ढोती रहेगी। अब तेरा ब्याह रचा दूँ। तेरे लिए एक बड़ा अच्छा वर ढूँढ़ लिया है।"

श्यामा चुपचाप सब कुछ सुनती रही थी। उसने कोई उत्तर नही दिया था। इतने दिनों जिसने माँ की तरह पाला, उसे क्या उत्तर देती वह !

और सचमुच जल्दी ही उसकी शादी कर दी गई थी।

और यह एक अलग कहानी है। एक अलग स्मृति। तमाम स्मृतियों से जुड़ी होकर भी उन सबसे अलग। पछाड़ खाती एक अलग लहर, तमाम और पछाड़ खाती लहरों के साथ होकर भी उनसे अलग···

जब श्यामा ने सुहागरात को पहली बार पति का मुख देखा तो वहाँ उसे दिखाई दिया—झुर्रियोंदार जर्जर चेहरा···और टूटती-सी देह। उसका मन हुआ था, झटके से बाँहों के घेरे को तोड़कर तुरन्त भाग जाए। लेकिन न जाने वह कौन-सा मजबूरी थी जिसने उसे कमजोर बना दिया। वह चुपचाप, सिसकती हुई, आँखें मूँदे पड़ी रही थी सारी रात।

इसी तरह दो दिन गुजर गए। जर्जर देह वाला वह अजनबी तीसरे दिन जब घर से निकला, तो श्यामा भी चुपचाप सीढ़ियाँ उतरती हुई सड़क पर आ गई थी।

लेकिन अब वह बस्ती मे पहुँची, तो इस बार उसकी मुलाकात वृद्धा से नहीं हुई। वृद्धा घर मे नहीं थी। वह कहीं दूर चली गई थी। घर में केवल उसका भाई था।

"माँ कहाँ है?" श्यामा ने पूछा। लेकिन उसे कोई उत्तर नहीं मिला। किसी ने उत्तर नहीं दिया, घर की दीवारों ने भी नहीं। अब? अब कहाँ जाए वह? क्या करे? 'क्या फिर स्टेशन जाऊँ?' उसने जैसे अपने से कहा, 'रेल पकड़ूँ? लेकिन इतने दिन हो गए। क्या पता बहन कहाँ हो।'

लेकिन अभी वह कुछ सोच भी नहीं पाई थी कि सहसा दूसरे कमरे मे उसे अपने पति की आवाज सुनाई दी। झुर्रियों वाला चेहरा लिए अपने पति की। उसका अंग-अंग काँप उठा। ऊपर से नीचे तक वह सिहर गई। तो अब उसे ले जाने वह फिर आया है? लेकिन नहीं···नहीं जाएगी वह।

'नहीं जाऊँगी मै,' उसने अपने मे कहा। कहा और तभी उसके कान मे वृद्धा के भाई के शब्द टकराए, 'हम उसे आपके साथ जाने के लिए राजी कर देंगे, लेकिन···' हाँ, उसके कानो मे यही शब्द टकराए, 'लेकिन आपको एक हजार रुपया और देना होगा।'

'एक हजार। एक हजार कैसा?' यह आवाज किसकी थी? उसी की···उसी की जिसके साथ वह दो रातें रही थी, जिसके साथ उसे दो रातें

काटनी पड़ी थी।

'एक हजार दीजिए, तभी उसे राजी कर सकते हैं।' उसने फिर सुना।

उसे आश्चर्य हुआ—वह राजी हो गया था, "ठीक है, मैं इन्तजाम करके लाता हूँ, आज ही।"

इसके बाद वह चला गया था।

और फिर ?

फिर क्या हुआ था ?

उसे कुछ याद नहीं है। पता नहीं क्या हुआ था। लेकिन नहीं, वह अपने से कैसे झूठ बोल सकती है। उसे याद है, सब कुछ याद है···मन के अन्तहीन सागर में लहरें फिर पछाड़ें खाने लगी हैं। मछली की तरह तड़पती हुई एक लहर फिर पास आ गई है। अशान्त सागर में फिर तूफान उठ गया है···पता नहीं, यह सब कैसे हो गया था।

कुछ ही देर बाद पुलिस उस मकान में घुस आई थी। और कुछ ही देर बाद वह थाने में थी। वृद्धा का भाई और झुर्रियोंदार चेहरे और टूटती-सी देह लिए उसका पति भी थाने में था। सब एक-दूसरे के आमने-सामने। बूढ़े का कहना था कि उसके साथ धोखा किया गया है। धोखा और जालसाजी। उससे पाँच हजार रुपए लेकर श्यामा से उसकी शादी की गई है। वृद्धा के भाई ने बाद में कबूला—वे लोग ऐसी शादियाँ पहले भी करा चुके हैं।···और श्यामा ? श्यामा की कहानी लम्बी थी—किसी लम्बी यात्रा की तरह। चितपुर रोड और अनुराधा। अनुराधा और चरण। चरण और प्रीतम। प्रीतम और···बूढ़े से शादी···यह सब इस लम्बी यात्रा के पड़ाव थे। बस, केवल पड़ाव।

अभी भी यह लम्बी यात्रा खत्म नहीं हुई है। अन्त कहाँ है इस यात्रा का ? उसे कुछ पता नहीं। नहीं पता है उसे। बस, पड़ाव पर पड़ाव पार करती जा रही है वह।

इतने वर्षों तक कहाँ थे ?

आपने डॉक्टर जयंत चौधरी का नाम अवश्य सुना होगा।

अपने समय के जाने और माने हुए डॉक्टर चौधरी की ख्याति दरअसल बहुत कम समय में ही दूर-दराज तक फैल गई थी। सवेरे सात बजे उनका क्लीनिक खुलता था, लेकिन इलाजकरानेवालों और मरीजो के नाते-रिश्तेदारों की भीड़ सवेरे चार-पाँच बजे से ही क्लीनिक के आसपास लग जाती थी।

डॉक्टर चौधरी हर बीमार को देखते। न केवल देखते, बल्कि अच्छी तरह उसकी परीक्षा करते। उनका बात करने का ढंग कुछ ऐसा आकर्षक था कि मरीज का आधा रोग तो उसी से दूर हो जाता है। शेष आधा रोग उनकी दवा दूर कर देती है। उनके बारे में आम तौर पर मशहूर था कि डॉक्टर चौधरी दवा नही देते, बल्कि जादू करते है, जादू। एक ऐसा जादू जो कभी-बेअसर नहीं होता। कभी ऐसा नहीं हुआ था कि डॉक्टर चौधरी के पास आया मरीज ठीक न हुआ हो, फिर चाहे वह पहले और भी कितने ही डॉक्टरों को क्यों न अपनी नब्ज दिखा चुका हो।

डॉक्टर चौधरी का क्लीनिक शहर की संभ्रान्त बस्ती ईस्ट एण्ड मे था। ईस्ट एण्ड मे कोठियाँ है, सिर्फ कोठियाँ। वहाँ 'लोग' नही रहते बल्कि 'विशिष्ट जन' रहते हैं जिनके चेहरो पर हर वक्त आभिजात्य की गरिमा रहती है। ये 'विशिष्ट जन'-प्रायः दो ही वर्गो के हैं—व्यापारी अथवा विदेशी मिशनों के उच्च अधिकारी। दूसरे गों के नाम उनके साथ उनके नौकर-चाकर रहते हैं और रहते है विदेशी नस्लो के कुत्ते-बिल्ली, जो केवल कारो में सैर करते हैं या जिन्हे सवेरे-शाम ये नौकर-चाकर सैर कराने ले जाते है।

डॉक्टर चौधरी का क्लीनिक जिस कोठी में था, उसके बगल का प्लॉट

सयोगवश खाली था। सयोगवश ही क्लीनिक के ठीक सामने बड़ा-सा मैदान था। या शायद खाली कोठी के सामने और बगल में इन संयोगो को देखकर ही डॉक्टर चौधरी ने कोठी को किराए पर लिया था क्लीनिक खोलने के लिए। ये दोनो स्थान धीरे-धीरे मरीजो के विश्राम-स्थल बन गए थे। क्लीनिक के बरामदे में जगह थी और बेंचे भी पडी रहती थी, किन्तु जितनी जगह बेंचो मे हो सकती थी, उससे कहीं अधिक होते थे मरीज और उन्हें दिखाने के लिए आनेवाले लोग।

मरीजो को देखने के लिए कोठी की ऊपर की मंजिल से जब ठीक सात बजे डॉक्टर चौधरी नीचे अपने कमरे मे आते तो अपने चारों ओर, कमरे के बाहर बेंच पर, सामने मैदान मे और बगल के खाली प्लॉट पर लोगों की भीड़ देख उन्हें मन ही मन खुशी होती। कभी-कभी वह स्वय से ही अचरज भरा प्रश्न करते कि सुबह-शाम इतने सारे लोगो का इलाज करता हूँ, फिर भी न जाने कैसे रोजाना मरीजों की संख्या बढती ही जाती है?

यह प्रश्न उन्हें अच्छा नही लगता था। अजीब डॉक्टर थे वह। मरीजों की संख्या बढ़ना उन्हे अच्छा नही लगता था। पर यह एक सच था जिसे झुठलाया नही जा सकता था। वह चाहते तो थे कि अधिकाधिक मरीज उनके पास आया करें, लेकिन उन्हे प्रतिदिन इतने सारे लोगो को मरीज के रूप में देखना कुछ प्रीतिकर भी नही लगता था। सुबह-सुबह उदास, बीमार चेहरो की भीड़ देखना उन्हें कतई नही सुहाता था।

शायद यही उनमें और दूसरे डॉक्टरो में अतर था। लेकिन केवल इतना ही अतर नही। उनमें और दूसरे डॉक्टरों में एक और भी अंतर था। डॉक्टर चौधरी की फीस बहुत कम थी। ईस्ट एण्ड जैसे आभिजात्य इलाके में कम फीस लेकर बीमारो का इलाज करना एक विचित्र बात थी। विचित्र और आश्चर्यजनक। यही कारण था कि दूर-दराज से रोगी उनके पास इलाज कराने के लिए आते थे।

कम फीस, मधुर व्यवहार और अचूक इलाज—यही मुख्य रहस्य थे डॉक्टर चौधरी की सफलता और ख्याति के। इसे डॉक्टर चौधरी भी समझते है। दरअसल वह डॉक्टरी पेशे को एकदम व्यवसाय-व्यापार की भांति चलाने

के पक्ष मे ही नही थे। शोहरत के साथ ही सम्पन्नता भी उनके पास आती जा रही थी। कम फीस के वावजूद मरीजो की लम्बी कतार उनके बैंक बैलेंस को रोजाना बढाती जा रही थी।

यह उनका बैंक बैलेंस था जिसकी ओर कई घर-परिवारो की नजरें लगी हुई थी। यह स्वाभाविक भी है। कौन नही चाहेगा कि उसकी लड़की या बहन या भतीजी का विवाह आकर्षक व्यक्तित्व वाले, सम्पन्नता की ओर क़दम बढ़ाते व्यक्ति के साथ न हो? डॉक्टर चौधरी मे ये सभी गुण थे। उनके पास अक्सर ही विवाह के प्रस्ताव आते। कभी कुछ लोग प्रत्यक्ष बात छेड़ देते तो कभी कोई परोक्ष रूप से बात कह जाता। पार्टियो-समारोहो में प्रायः बड़े घरों की उन्मुक्त कन्याएँ उनके सम्मुख कुछ ऐसे भाव से वार्त्तालाप करती कि लगता कि वे डॉक्टर चौधरी से बातों ही बातों में प्रणय-निवेदन कर रही हैं।

लेकिन मरीजो की नब्ज की धडकन सुनने मे व्यस्त डॉक्टर चौधरी को भला इन उन्मुक्त लडकियो के दिलों की धडकनें सुनने की फुरसत कहाँ थी। और फिर दिलो की धडकनें तो वह आला लगाकर सुनने के आदी थे। और आला किसी मरीज के ही लगाया जाता है, मुक्तहास के साथ प्रणय-निमंत्रण देने वाली पूर्ण स्वस्थ सुन्दरियों के नही।

शायद यही कारण था कि पार्टियो-समारोहो से लेकर ड्राइगरूम के सीमित संसार तक वह कही लड़कियो के यौवन और रूप के प्रति लापरवाह ही रहते। इस लापरवाही की आदत उन्होंने अपने छात्र जीवन से ही डाल रखी थी। लेकिन डॉक्टर चौधरी को ज्ञात नही था कि उनकी लापरवाही पर तो लड़कियाँ और भी अधिक समर्पित हैं, या हो सकता है कि ज्ञात हो। यह भला संभव भी कैसे है कि तीस-पैंतीस की आयु का एक ऐसा व्यक्ति जो मरीज की असाध्य से असाध्य बीमारी की जड़ तक का पता लगा लेता हो, यौवन की देहरी पर खड़ी लड़कियो के प्रणय-निवेदन को न समझ पाता हो।

एक बात और…

क्लीनिक में मरीज से अत्यंत विनम्रता से पेश आने वाले डॉक्टर चौधरी क्लीनिक से बाहर लड़कियों से अप्रत्याशित रूप से रूखेपन का व्यवहार करने के अभ्यस्त थे। उनका व्यक्तित्व मानो दो भागों में बँट गया था।

सचमुच अजीव था उनका व्यक्तित्व। शायद उनके इस दोहरे व्यक्तित्व को भाँप कर ही एक बार किसी लड़की ने बात ही बात में उनसे पूछ लिया था, "डॉक्टर चौधरी, क्या आपकी कोई बहन नही है?"

"है तो।" डॉक्टर चौधरी ने अचरज के साथ उत्तर दिया था और उतने ही अचरज के साथ प्रश्न किया था, "लेकिन क्यों?"

"इसलिए कि महिलाओ, विशेष रूप से लड़कियों के साथ आपका व्यवहार काफी रुखा-रूखा-सा रहता है—स्नॉबरी की हद तक रूखा।" कान्वेण्ट में पढ़ी उस लड़की ने तपाक से कहा।

डॉक्टर चौधरी कुछ बोल नही सके। बोलते क्या! स्तंभित से उसकी ओर देखते रहे, क्योंकि बोलने के लिए उनके पास कुछ नही था। कुछ भी तो नही। क्षण-भर बाद, वह बस केवल मुस्करा दिये।

लेकिन वह लडकी यही पर चुप नही हो गई।

कुछ तल्खी के साथ उसने कहा, "शायद आप सोचते हैं कि हर लडकी आपसे प्रणय-निवेदन कर रही है; हर लड़की आप पर फ़िदा है। यदि सच-मुच आप ऐसा सोचते है तो यह आपके मन का भ्रम है।"

उसने क्षण-भर डॉक्टर चौधरी की ओर देखा।

डॉक्टर चौधरी कुछ कहना चाहते थे, लेकिन उसने अपनी बात जारी रखी, "बहुत संभव है कि बहुत-सी युवतियाँ आपके व्यक्तित्व, आपकी ख्याति, और आपकी सम्पन्नता के कारण आपके निकट आना चाहती हों और उनमें से कुछ आपकी जीवन-संगिनी बनने का सपना भी देखती हों, लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि सभी आप पर जान छिड़कती हैं।"

यह अंतिम शब्द उसने कुछ ऐसे व्यंग्यात्मक स्वर से कहे कि डॉक्टर चौधरी बुरी तरह तिलमिला उठे। वह अंदर ही अंदर तैश में आ गए। उन्हें लगा कि भीतर कही कुछ उबल-उफन रहा है। चिकित्सा-विज्ञान की शुष्क दुनिया में ही खोए रहने वाले डॉक्टर चौधरी की नसों मे एक अजीब सा तनाव आ गया। अदर कुछ ऐसी छटपटाहटहोने लगी मानो किसी ने जमीन पर आहिस्ता-आहिस्ता सरक रहे काक्रोच पर खौलता पानी डाल दिया हो और वह तडफड़ा उठा हो। पर ऊपर से वह सयत ही रहे। संयत स्वर में ही वह बोले, "मैडम, आपने जो कुछ कहा ठीक कहा। मैं जानता हूँ कि

प्रत्येक महिला मुझ पर जान नही छिड़कती।" फिर उन्होंने आहिस्ता से कटाक्ष किया, "मैं तो यह भी नहीं जानता कि मुझ पर कितनी लड़कियाँ जान छिड़कती हैं और आप उनमें से है या नही !"

इतना कह कर डॉक्टर चौधरी मुस्करा दिये, किन्तु इस बार की मुस्कान में विजय का दर्प था। यह मुस्कान झेप भरी नही थी, उसमें स्पष्ट व्यंग्य था।

डॉक्टर चौधरी को लगा कि यौवन की देहरी के बीचोबीच खड़ी वह कन्या उनके उत्तर से भड़क उठेगी या कम से कम छटपटाएगी जरूर, किन्तु यह उनके मन का भ्रम सिद्ध हुआ। किसी तिलमिलाहट, किसी छटपटाहट के संकेत उसके चेहरे पर नजर नही आए। उसने भी अत्यन्त सयत भाव से केवल इतना ही कहा, "डॉक्टर चौधरी, आपकी सूचना के लिए बता दूँ कि हृदय मेरे पास भी है। और उसमें भी प्रेम की पवित्र भावनाओं के ज्वार उठते हैं, लेकिन अपने मामले में आपको मेरी ओर से निराश होना पड़ेगा।"

वह कुछ रुकी। डॉक्टर चौधरी उसकी बात का तात्पर्य नही समझ पाए और हतप्रभ से उसकी ओर निहारते रहे।

उसने स्पष्ट किया, "यदि आप कुछ समय पहले मिले होते तो शायद कुछ सोचा भी जाता, पर अब देरी हो गई है और मैंने अपना रास्ता तय कर लिया है—मैं एयर-होस्टेस हूँ यानी विमान परिचारिका और विमान चलानेवाले एक युवक को जीवनसंगिनी बनने का मैंने निश्चय कर लिया है। हाँ, वह सपना हकीकत में बदलने में कुछ समय है। अभी तो जीवन-पथ पर विमान-यात्राएँ ही हैं—प्रतिदिन यात्राएँ, प्रतिपल यात्राएँ।"

डॉक्टर चौधरी ने सीधे सामने से अब उस युवती की आँखों में झाँका। वहाँ अद्भुत गहराई नजर आ रही थी। एक ऐसी गहराई, जैसी ऊँचे आकाश में उड़ते विमान में बैठकर नीचे सागर की ओर निहारने पर दिखाई देती है। उन्हें उसकी वाचालता बड़ी अच्छी लगी, लेकिन वह स्वयं अपने को 'स्नॉबरी' से मुक्त नही कर पा रहे थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के ऊपर जो एक और व्यक्तित्व ओढ़ रखा था, उसे उतार फेंकने में उन्हें कठिनाई महसूस हो रही थी। मानो छटपटाते हुए उन्होंने कहा, "अच्छा,

तो मैडम, आप इसीलिए पूछ रही थीं कि क्या मेरी कोई बहन नहीं है? क्या यह जरूरी है कि जिन लड़कियों की ओर मैं आकर्षित नहीं होता या जो लड़कियाँ मेरी ओर आकर्षित नहीं होतीं, उन सभी को मैं अपनी बहन मानूँ?"

"बिलकुल मत मानिये।" एयर-होस्टेस ने अपनी सम्पूर्ण स्मार्टनेस के साथ कहा, "हरेक को बहन मानना न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। यह भी कतई जरूरी नहीं कि प्रत्येक लड़की, जो आपकी ओर आकर्षित नहीं होती, आपको भाई ही माने।"

"तो फिर?" डॉक्टर चौधरी ने मर्माहत होकर पूछा।

"प्रेमी और भाई अथवा प्रेमिका और बहन से अलग हट कर भी रिश्ते होते हैं..."

"हाँ, होते तो हैं लेकिन..." डाक्टर चौधरी ने कहा किन्तु उनका वाक्य पूरा नहीं हो पाया।

स्वयं अपना वाक्य पूरा करते हुए एयर-होस्टेस ने कहा, "इन्हीं रिश्तों की दीवार पर हमारा समाज खड़ा है और हमारे सामाजिक संबंधों की नींव टिकी है।" बाल झटकते हुए अपनी बात उसने आगे बढ़ाई, "दुनिया भर में घूम-फिर कर मेरी अल्प बुद्धि जितना समझ सकी है, उसके अनुसार हम रात-दिन जिन अनेक व्यक्तियों से मिलते हैं, वे सभी मात्र हमारे प्रेमी या फिर भाई ही नहीं होते, वे हमारे मित्र होते हैं, शुभचिन्तक होते हैं पड़ोसी होते हैं, परिचित होते हैं। इसी प्रकार के रिश्तों की डोर हमें एक-दूसरे से जोड़े रखती है। इसी जोड़-भाग से समाज में व्यवस्था बनी रहती है।"

डॉक्टर चौधरी को चिकित्सा-विज्ञान का अपना समस्त ज्ञान अल्पवय की इस विमान परिचारिका के समक्ष अदना-सा महसूस होने लगा या वह स्वयं अपने को उसके सामने अदना महसूस करने लगे। उन्हें लगा कि वह एक सफल डॉक्टर अवश्य हैं, जिसने उन्हें खासी ख्याति और सम्पन्नता दिलाई है, किन्तु सही सन्दर्भ में सामाजिक सम्बन्धों को परखने की क्षमता उनमें नहीं है।

डॉक्टर चौधरी का चेतन मन लोगों के प्रति लापरवाह था, उन्हें मात्र रोगी मान कर चलता था और ऐसा मानने के क्रम में स्वयं रोगी हो गया

था। दूसरो के रोग के पता लगा लेने मे माहिर डॉक्टर चौधरी स्वय इस स्थिति से अनभिज्ञ थे। और अचेतन मन ? वह महिलाओं को प्रेमिका अथवा बहन मानने के अतिरिक्त किसी अन्य सबध-सूत्र मे बाँधने को तैयार ही नही होता था।

किन्तु यौवन की देहरी पर खड़ी बड़े मोहक व्यक्तित्व वाली उस एयर-होस्टेस ने उनके चेतन और अचेतन दोनों को ही बुरी तरह झकझोर दिया था। वह कह रही थी, "डॉक्टर, मैंने आपसे पूछा था, क्या आपकी कोई बहन नही है ? इसका आशय यह नही था कि आप हर लडकी को बहन मानें, बल्कि आशय यह था कि आप ऐसा व्यवहार करें जैसा बहन के साथ किया जाता है—भद्र और शालीन, न कि स्नॉब और अभद्र।"

"क्या मतलब ?" डॉक्टर चौधरी ने एकाएक पूछा।

"मतलब यह है कि" एयर-होस्टेस ने मुस्कराहट बिखराते हुए कहा, "क्लीनिक के अन्दर और क्लीनिक के बाहर अपने व्यक्तित्व को दो हिस्सो मे न बाँट दें, जाने या अनजाने इस सुन्दर, आकर्षक और खुशमिजाज चेहरे पर स्नॉबरी और बेरुखी का एक और चेहरा न पहन लें।"

डॉक्टर चौधरी कुछ न कह सके। एक बार फिर कहने को उनके पास कुछ नही था। मुखर व्योमबाला ने उन्ही के समक्ष उनके यथार्थ को एकदम ही नगे रूप में प्रस्तुत कर दिया था।

वह असमंजस मे डूब गए।

किन्तु केवल इतने से ही डॉक्टर चौधरी मे परिवर्तन नही आ गया। आ भी नही आ सकता था। वह संभव भी नही था। कोई आदत एक दिन मे ही नही छूट जाती। यह डॉक्टर चौधरी भली भाँति जानते थे। वह जानते थे कि किसी आदत को छूटने में कई दिन, कई माह और कभी-कभी तो कई-कई वर्ष भी लग जाते हैं और फिर जिसके कदमो पर हर रोज पैसा बरस रहा हो, जिसकी ख्याति हर दिन बढ़ती जा रही हो, उसकी आदत इतनी आसानी से भला कैसे छूट सकती है। बड़े लोगो की आदते छूटने मे भी बड़े दिन लगते है।

लेकिन श्रीमती मजुला विश्वास को डॉक्टर चौधरी की आदत छुडाने

में कठिनाई नहीं हुई।

जो मंजुला विश्वास 'चौधरी क्लीनिक' में इलाज कराने आई थी, उनकी बीमारी तो डॉक्टर चौधरी ने ठीक कर दी, लेकिन वह स्वयं रोगी हो गए। तन से नहीं, मन से।

और ऐसा डॉक्टर चौधरी के जीवन में पहली बार हुआ।

श्रीमती मंजुला विश्वास एक दिन उनके इतने निकट आ जाएँगी, यह डॉक्टर चौधरी ने कभी सोचा ही न था। सोचने का प्रश्न ही नहीं उठता था। स्वयं श्रीमती मंजुला विश्वास ने भी नहीं सोचा था।

दरअसल श्रीमती विश्वास इतने आहिस्ता से उनके जीवन में आई कि किसी ने उनके कदमों की आहट तक न सुनी। शुरू-शुरू के दिनों में तो स्वयं श्रीमती विश्वास को भी यह आहट नहीं सुनाई दी थी और डॉक्टर चौधरी को भी नहीं। कितना अजीब था यह, पर था सच। एक ऐसा सच जिससे शुरू-शुरू में दोनों ही परिचित नहीं थे। लेकिन सच से इस अपरिचय के बावजूद दोनों अनजाने ही एक-दूसरे की ओर बढ़ चले थे, पहले दोनों दो समानान्तर मार्गों पर चल रहे थे, कभी-कभी कनखियों से एक-दूसरे की ओर देखते हुए, फिर न जाने कब ये समानान्तर सड़कें एक-दूसरे में विलीन हो गई थीं और न जाने कब दोनों ने एक-दूसरे को आमने-सामने खड़ा पाया था और फिर आमने-सामने के बीच का फासला भी मिट गया था।

पहली बार रोगियों की उस भीड़ में डॉक्टर चौधरी ने श्रीमती मंजुला विश्वास को देखा था, उनके नाम-परिचय से दूर रह कर। देखकर डॉक्टर चौधरी को कुछ विचित्र-सी अनुभूति हुई थी—एक अनाम अनुभूति, जो पहले कभी नहीं हुई थी।

श्रीमती मंजुला विश्वास के व्यक्तित्व में एक अद्भुत आकर्षण था। जिसे सही अर्थों में व्यक्तित्व कहते हैं, वही था उनके पास—अपनी सम्पूर्णता और भव्यता के साथ। इसीलिए रोगियों की उस भीड़ में भी वह रोगी जैसी नहीं लग रही थी। लग रही थी किसी सुन्दर और बड़े बँगले के बगीचे में खिले हुए उस हल्के गुलाबी गुलाब जैसी जो माली के पानी छिड़कने से और उजला, तरोताजा हो गया हो।

इस सद्य.स्नात सौन्दर्य की ओर निहारते हुए डॉक्टर चौधरी ने

आदतन पूछा, "हाँ, तो आपको क्या बीमारी है ?" और उत्तर मिलने से पहले जैसे ही उन्होंने श्रीमती मंजुला विश्वास की कलाई थामी तो वह एकाएक चौंक उठे, "अरे, आपको तो तेज फीवर है !"

तेज ज्वर के बावजूद श्रीमती विश्वास मुस्करा रही थी। अन्दर तकलीफ थी किन्तु चेहरे पर उसके कोई संकेत नजर नही आते थे।

धीरे से वह बोली, "पिछले कुछ दिनों से तबीयत कुछ ढीली-सी महसूस हो रही थी, लेकिन कल रात ज्वर कुछ बढ गया।"

"पर आपको पहले ही आना चाहिए था।" डॉक्टर चौधरी ने मुंह खोलने का आदेश देकर टॉर्च उठाते हुए कहा, "मर्ज बढने देना अच्छी बात नही।"

वह टॉर्च से कुछ देर मुंह के अन्दर गले मे इधर-उधर देखते रहे, फिर बोले, "जब बुखार इतना अधिक हो गया था तो आपको यहाँ नही आना चाहिए था, घर से ही फ़ोन कर दिया होता।"

"सोचा तो था, किन्तु डॉक्टर को घर पर बुलाने मे मुझे हमेशा ऐसा लगता है कि मानो मै अन्य मरीजों से अन्याय कर रही हूँ।" श्रीमती मंजुला विश्वास ने कहा।

थोडी देर के लिए डॉक्टर चौधरी की समझ मे नही आया कि वह क्या कहे।

फिर अगले क्षण वह बोले, "आपका कहना ठीक है, लेकिन इतने अधिक फीवर मे आपका यहाँ आना अभी भी तो ठीक नही था। खैर, छोड़िये···"

और प्रसंग को उन्होंने यही पर समाप्त कर दिया।

फिर अपनी कुर्सी के पीछे पर्दे के उस ओर रखे 'बैड' पर लेटने का आदेश दिया और स्वयं भी उठे। श्रीमती विश्वास लेटी तो डॉक्टर चौधरी ने आले मे उनके दिल की धडकनो को सुना, फेफड़ो की हालत का पता लगाया, काफी देर तक पीठ पर आला लगाते रहे और फिर उन्हे उठने के लिए कहकर स्वयं अपनी कुर्सी पर आ गए और एक छपे पर्चे पर जल्दी-जल्दी मे दवाइयाँ लिखकर कम्पाउंडर की ओर बढ़ा दिया।

श्रीमती मंजुला विश्वास दवा लेकर जाने लगीं तो डॉक्टर चौधरी ने उन्हें रोका, "सुनिये !"

श्रीमती विश्वास ने पलट कर देखा।

डॉक्टर चौधरी कह रहे थे, "अगर इन दवाइयों से फायदा न हो तो फोन करके बुलवा लीजियेगा।"

थैंक्यू, डॉक्टर।" कहकर श्रीमती विश्वास 'चौधरी क्लीनिक' से बाहर निकल लीं।

बाहर गेट पर ही उनकी 'एम्बेसेडर' खड़ी थी।

और खड़ा था उनका ड्राइवर, और ड्राइवर के ही बगल में कार के पिछले दरवाजे के सहारे उनका पाँच साल का बेटा सुकुमार।

श्रीमती विश्वास ने अपने लाड़ले बेटे के बालों और गालों पर प्यार से हाथ फेरा, ड्राइवर ने लपककर कार का दरवाजा खोला और माँ-बेटे पीछे की सीट पर अगल-बगल बैठ गए।

डॉक्टर चौधरी को क्लीनिक की खिड़की से श्रीमती विश्वास कार में जाती दिखाई दीं। जब वह चली गईं, तभी उनकी तन्द्रा टूटी। पिछले डेढ़-दो मिनट से वह मरीज की कलाई हाथों में पकड़े हुए श्रीमती मंजुला विश्वास के ही ध्यान में उलझे हुए थे। श्रीमती विश्वास ने कुछ ऐसा उलझा दिया था उन्हें।

अब तक होता यह था कि एक मरीज के सामने से उठकर जाने के बाद वह उस मरीज को तत्काल भुला देते थे और दूसरे मरीज पर ध्यान केन्द्रित कर देते थे, लेकिन इस बार ऐसा नहीं हुआ था। और जो कुछ हुआ था वह पहली बार हुआ था, अप्रत्याशित-सा। एक विचित्र अनुभव था यह डॉक्टर चौधरी के लिए।

यह भी पहली बार हुआ था कि श्रीमती मंजुला विश्वास बुखार और शरीर के जोड़-जोड़ में पीड़ा के बावजूद डॉक्टर के सामने मुरझाई हुई नहीं बैठी थीं। इतनी तकलीफ में भी उनके चेहरे पर मुस्कान थी, दूसरों को अपने में बाँध लेने वाली मुस्कान। मुस्कान जो सहज ही सम्मोहित कर ले।

बहुत-सी बातें पहली बार हुई थीं।

यह भी पहली बार ही हुआ था कि 'एशिया कम्बाइन प्राइवेट लिमिटेड' के अत्यन्त कार्यव्यस्त मैनेजिंग डायरेक्टर मिस्टर अनिल विश्वास की पत्नी मंजुला विश्वास कार में जाते हुए पति मिस्टर विश्वास के नहीं डॉक्टर जयंत चौधरी के खयालों में खोई हुई थीं। उनके सामने बार-बार 'चौधरी क्लीनिक' उभर आ रहा था और सड़क पर आगे बढ़ती कार के एकदम सामने के शीशे पर हर नए क्षण डॉक्टर चौधरी मुस्कराते हुए दिखाई पड रहे थे—कभी कलाई अपने हाथ में थामे हुए, कभी गला देखते हुए और कभी छाती पर आला लगाए हुए। श्रीमती विश्वास बार-बार सिर झटकती, लेकिन दूसरे ही क्षण मिस्टर विश्वास की जगह डॉक्टर चौधरी उपस्थित हो जाते—बातें करते हुए, यह खाने और वह न खाने की हिदायतें देते, टेबुल पर झुककर 'प्रिस्क्रिप्शन लिखते' हुए। श्रीमती विश्वास एक बार फिर सिर झटक कर आगे बढ़ने को हुँसी तो लगता पीछे से आवाज आ रही है, 'सुनिये !' वह मन ही मन कहती, 'सुनाइये !' मुस्कराते हुए उधर से आवाज आती—'अगर फायदा न हो और फीवर बढ़ने लगे तो फोन करके बुलवा लीजियेगा।'

श्रीमती विश्वास की समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसा क्यों हो रहा है ?

"क्यों हो रहा है ऐसा ?" वह अपने से ही पूछती और फिर या तो कार के शीशों के बाहर देखने लगती या सुकुमार से बातें करने लगती।

मिस्टर विश्वास अपनी कम्पनी के काम से दूर पर गए हुए थे। वह अक्सर बाहर जाते रहते थे और अक्सर श्रीमती विश्वास को दिन-रात अकेले काटने पड़ते थे। साथ के नाम पर होता था सिर्फ पाँच वर्षीय सुकुमार। सुकुमार के साथ केवल उतनी ही बातें होती थीं जितनी कि पाँच वर्षीय पुत्र के साथ संभव होती हैं।

यों भी जब मिस्टर विश्वास शहर में होते तब तक कौन ढेर सारी बातें हो पाती थीं। शहर में रहने पर उनका अधिकांश समय ऑफिस में फाइलों के बीच और घर में टेलीफोन कॉल्स सुनने में बीतता। फुरसत के क्षण उनके जीवन में बहुत कम आते। जो आते, वे सुकुमार को अधिक

समर्पित थे और मंजुला को कम।

विशाल कोठी के बड़े-बड़े कमरों में अकेलेपन का अहसास श्रीमती मंजुला विश्वास को और भी ज्यादा तकलीफ देता। वह प्रत्येक क्षण मानो संघर्ष करती रहती और प्रत्येक क्षण था कि उन्हें परास्त कर देता। उन्होंने विवाह के पहले तो केवल सुना ही था कि बड़े आदमियों का जीवन अत्यंत व्यस्त होता है, इतना व्यस्त कि उन्हें घर-परिवार की भी सुध नहीं रह पाती, और विवाह के बाद उन्होंने सब कुछ स्वयं ही देख-भोग भी लिया था।

अक्सर बाल्कनी पर खड़े होकर जब वह शाम के साये तले सरकारी दफ्तरों के क्लर्कों और चपरासियों को साइकिलों में घर लौटते देखतीं, तो उन्हें आर्थिक संघर्ष में टूटते, लड़खड़ाती पुरानी साइकिलों की तरह लड़खड़ाते इन लोगों से ही ईर्ष्या होने लगती। वह सोचती, कम से कम इन लोगों का अपना निजी जीवन तो है। न सही कोठी-बँगले, एक-दो कमरों के छोटे-छोटे मकानों में अपना सुन्दर व्यक्तिगत संसार तो है। अपनी पत्नियों के साथ बिताने के लिए समय तो है।

कभी-कभी उनका मन होता, काश वह भी इन्हीं लोगों की तरह हाथ में थैला लेकर शाम को पति के साथ सब्जी खरीदने निकलतीं और फिर रात को खाना खाकर फर्लांग-दो फर्लांग उनके साथ घूमने जातीं। कितनी छोटी महत्त्वाकांक्षा थी, पर यह भी पूरी न हो पाती। उनकी नजर नीचे पोर्टिको में कई-कई दिन तक चुपचाप खड़ी कार पर जाती। फिर ख्याल आता, मिस्टर विश्वास के साथ कभी शाम को कार में बैठकर जाना भी होता है तो घूमने के लिए कम, किसी बड़े होटल में किसी के साथ उनकी 'बिजनेस डील' के लिए अधिक। वह बेतरह उकता उठतीं—हर पल, हर दिन बिजनेस-बिजनेस-बिजनेस। मानो बिजनेस की दुनिया के अलावा कहीं कोई अन्य संसार मिस्टर विश्वास के लिए है ही नहीं।

मिस्टर विश्वास साल-छह महीने में कभी चार-छह दिन के लिए किसी हिल-स्टेशन पर घुमाने ले जाते, किन्तु लौटते ही उन्हें फिर वही व्यस्तता आ घेरती—वही लम्बे-लम्बे टूर, ऑफिस में देर-देर तक फाइलों, चार्टों और आँकड़ों में घण्टों उलझे रहना या फिर घर पर टेलीफोन कॉल्स के

बीच की व्यस्तता। हिल-स्टेशन पर चार-छह दिन की तफरीह के बीच भी मिस्टर विश्वास निश्चिन्त कहाँ रह पाते। कभी-कभी तो मंजुला की बाँहों में नींद में खोए हुए हिल-स्टेशन के होटल के कमरे में वह सपने में भी अपने किसी असिस्टेंट को या अपनी स्टेनो को पुकारने होते।

और फिर अँधेरे कमरे की छत पर टकटकी लगाए रात बिताती मंजुला को कहना पड़ता कि मिस्टर विश्वास, आप आज की तारीख में अपनी बिजनेस कन्सर्न के ऑफिस में नहीं, हिल-स्टेशन में है, होटल के कमरे में हैं, अपनी पत्नी की बाँहों में हैं।

जागने पर मिस्टर विश्वास मुस्करा देते और मंजुला को और कसकर भींच लेते। मंजुला का मन में होता, वह उन्हें इसी तरह भींचे रहे, बल्कि और कस कर अपने समेट लें, अपनी पूरी शक्ति से उन्हें बाँहों के घेरे में ऐसे कैद करें कि मुक्ति मिल ही न पाए। लेकिन ऐसा होता कहाँ! मन केवल चाह कर रह जाता। देह केवल तड़प कर रह जाती। मिस्टर विश्वास थोड़ी ही देर में नींद की दुनिया में खो जाते और श्रीमती मंजुला विश्वास की नजरें एक बार फिर कमरे के आकाश पर टिक जातीं।

लेकिन कमरे के आकाश को भी कोई कब तक एकटक निहार सकता है? कुछ ही देर में श्रीमती मंजुला विश्वास का धैर्य टूट जाता और फिर कमरे के आकाश को अकेले चुपचाप देखते रहने में उन्हें घबराहट होने लगती। घबराहट और तकलीफ। तकलीफ और भय। भय में उन्हें लगता कि कमरे के आकाश से साँप नीचे लटक रहे है, और उनकी ओर लपकते आ रहे हैं।

मंजुला भयग्रस्त-सी रजाई में मुँह छिपा लेती और उस हिल-स्टेशन के होटल के एकांत कमरे में भी उनके सामने दिल्ली में अपनी कोठी की बाल्कनी के सामने से गुजरते हुए सरकारी दफ्तरों के बाबू और चपरासी उभर आते। साइकिलों में जाते इन बाबुओं और चपरासियों को देख श्रीमती मंजुला विश्वास को बार-बार यही लगता कि ये लोग अपने आर्थिक संघर्षों के बीच भी सुखी है, जीवन में कभी किसी हिल-स्टेशन पर न जा पाते हों तो क्या हुआ!

श्रीमती विश्वास को स्वयं अपनी आर्थिक सम्पन्नता के संसार के बीच

भी हर पल, हर घड़ी एक अव्यक्त वेदना कचोटती रहती। कैसा विरोधाभास था यह ! सम्पन्नता को तलाश लाने वाले मिस्टर अनिल विश्वास की रूपवती पत्नी मंजुला विश्वास सम्पन्नता के संसार में सुखी न थी। कैसी मर्मान्तक थी यह सम्पन्नता ! सुख का दूर-दूर तक नाम-निशान नहीं। उन्हें लगता कि जिन्हें आर्थिक विपन्नता के कारण ही 'छोटे लोग' कह दिया जाता है, वास्तव में वे छोटे नहीं हैं, बहुत बड़े हैं, बहुत सुखी हैं, छोटी-छोटी खुशियों के बीच ही बड़ी-बड़ी खुशियों का संसार रच लेते हैं, गरीबी के अभिशाप को ढोते हुए भी अपने सीमित संसार में हर वक्त मुस्कराते रहते हैं।

मुस्कराती तो श्रीमती मंजुला विश्वास भी थीं, किन्तु अकेलेपन के अहसास को छिपाने के लिए।

लेकिन डॉक्टर चौधरी की नजरों से उनकी मुस्कान के पीछे अकेलेपन, का अहसास नहीं छिप सका। चिकित्सा-विज्ञान के डॉक्टर मनोविज्ञान से इतने अनभिज्ञ नहीं थे कि किसी की मुस्कान पीछे का अर्थ न समझ सकें।

जब श्रीमती विश्वास दूसरी बार 'चौधरी क्लीनिक' गईं तो डॉक्टर चौधरी ने उनकी कलाई को अपनी उँगलियों से स्पर्श करते हुए पूछा, "कहिए कैसी तबीयत है अब आपकी, मिसेज विश्वास ?"

श्रीमती विश्वास ने मुस्कराते हुए सिर हिलाया, जिसका आशय था कि ठीक हैं।

किन्तु मंजुला विश्वास ठीक नहीं थी। केवल ज्वर उतर जाना या खाँसी-जुकाम का ठीक हो जाना ही तो ठीक हो जाना नहीं। आखिर एक बीमारी मानसिक भी तो होती है, जो अक्सर शरीर को भी अस्वस्थ कर देती है।

पहली बार जब श्रीमती विश्वास डाक्टर चौधरी के पास आई थीं तो वह भले ही मानसिक नहीं शारीरिक अस्वस्थता के कारण बीमार रही हों, लेकिन अक्सर तो वह मानसिक बीमारी की ही शिकार रहती थी। छह साल के वैवाहिक जीवन की सीमित अवधि ने उन्हें बाहरी सुख-सुविधाओं का विशाल संसार अवश्य दे दिया था, लेकिन क्या वह अंदर से भी सुखी थी ?

उनके पास क्या नही था ! कार-कोठी और कोठी मे करीने से सजी हुई सभी सहूलियतें। लेकिन वे तमाम जगहे अक्सर खाली सूनी रहती जो मिस्टर विश्वास के लिए थी, जैसे कि ड्राइग-रूम का सोफा, ऊपर बाल्कनी और नीचे लॉन मे रखी मार्डर्न-चेयर्स, डाइनिंग टेबल के चारो ओर पडी हुई कुर्सियाँ, बेडरूम के डबल बेड का दूसरा हिस्सा। अक्सर जब रात को श्रीमती विश्वास की नीद खुलती, तो वह पलग को देख बेचैन हो जाती। बेचैनी और उदास हो जाती।

मिस्टर विश्वास उनकी इस बेचैनी को नही पहचान पाए थे।

डॉक्टर चौधरी उनकी बेचैनी को पहचान गए थे। उन्होने उनकी बेचैनी और तडप को महसूस कर लिया था।

मिस्टर विश्वास उनकी बेचैनी और तडप को महसूस नही कर सके थे।

और जब काफी बातचीत कर लेने पर डॉक्टर चौधरी को पता चला कि मिस्टर विश्वास किसी प्राइवेट फर्म के अत्यन्त व्यस्त मैनेजिंग डायरेक्टर है और मैनेजिंग डायरेक्टर की हैसियत से अक्सर दौरे पर रहते हैं तो, उन्होने श्रीमती मंजुला विश्वास को नेक सलाह दी थी, "आप अपने को बिजी रखा कीजिये।"

बिजी ?...

व्यस्त ?...

लेकिन वह अपने को बिजी रखे तो कैसे रखें ?

व्यस्त रहने का उपाय भी तो हो कोई ? ...

मिस्टर विश्वास तो टूर मे, ऑफिस मे, टेलीफोन कॉल्स मे फाइलो के जगल में, स्टेनो को डिक्टेशन देने में, किसी पार्टी के साथ बिजनेस डील करने मे व्यस्त रहते हैं, लेकिन वह स्वय कैसे व्यस्त रहें ?

यही प्रश्न श्रीमती विश्वास ने डॉक्टर चौधरी से कर डाला।

और डॉक्टर चौधरी ने उत्तर दिया, "यह इतना बडा शहर है। यहाँ हर रोज एक नही बीसियों कल्चरल प्रोग्राम्स होते हैं, उन्हें देखने जाया कीजिये। लगभग रोज नई फिल्में लगती है, कभी फिल्मे ही देख लिया कीजिये। ...आपकी फ्रेंड्स होगी, कभी-कभो उन्ही के यहाँ तो आया कीजिये।"

डॉक्टर चौधरी ने व्यस्त रहने के एक साथ इतने सारे उपाय बता

दिए। श्रीमती विश्वास चुपचाप सुनती रहीं। फिर उनका मन हुआ कि कहें, "कल्चरल प्रोग्राम्स देखना, सिनेमा जाना, फ्रेंड्स से मिलना-जुलना आदि सभी ठीक लगता है, जब साथ कोई हो, कोई मर्द हो। ठूंठ की तरह सब जगह अकेले जाते फिरो, यह अपने को पसन्द नहीं।" लेकिन उन्होंने कुछ कहा नहीं।

वह डॉक्टर चौधरी के क्लीनिक से नींद की थोड़ी-सी गोलियां लेकर वापस आ गईं, ताकि दिन नहीं तो कम से कम रातें तो ठीक से कटें।

लेकिन नींद की गोलियां कोई इलाज नहीं है। वे तो इलाज को स्थगित रखने का बहाना हैं। या फिर वे ऐसा तरीका हैं जिससे रोग कम नहीं होता, अनजाने ही बढ़ता चला जाता है। कैसी विचित्र बात है, नींद की हर गोली अहसास कराती है कि नींद नहीं आती।

और नींद न आने की बीमारी को स्थगित रखने के लिए श्रीमती मंजुला विश्वास अब अक्सर डॉक्टर चौधरी के क्लीनिक जाती। स्लीपिंग-पिल्स कैमिस्टों के यहाँ मिलती हैं, लेकिन श्रीमती विश्वास हर बार डॉक्टर चौधरी के क्लीनिक में जाकर ये गोलियां लेती। वह अपने ड्राइवर को भेज कर किसी मेडिकल स्टोर से ये गोलियां नहीं मँगाती, बल्कि स्वयं ही कार ड्राइव करके 'चौधरी क्लीनिक' में पहुँच जाती। वहाँ पहुँचकर, मरीजों की उस भीड़ के बीच डॉक्टर चौधरी से सिर्फ स्लीपिंग-पिल्स लेने में उन्हें एक ऐसा सुकून मिलता जिसकी वास्तव में उन्हें तलाश थी।

मिस्टर विश्वास का दौरों पर बाहर रहना या ऑफिस में फाइलों और चार्टों में व्यस्त रहना या घर पर टेलीफोन कॉल्स में बिज़ी रहना अब श्रीमती विश्वास को उतना न अखरता। अब उन्हें छटपटाहट और बेचैनी और तड़प रहनी काफी हद तक बन्द हो गई। अब वह स्वयं को भी अनजाने ही व्यस्त महसूस करने लगी। घर का कोई काम अब भी न था, कल्चरल प्रोग्राम या सिनेमा में अब भी न जाती लेकिन फिर भी वह अपने को व्यस्त-सा महसूस करती और व्यस्त महसूस करने का यह अहसास उन्हें खुश रखता।

विश्वास की नजरों से भी न छिप सका। एक दिन मिस्टर विश्वास ने उनसे पूछ ही लिया, "क्यों डार्लिंग, बात क्या है जो अब तुम कोई शिकवा-शिकायत नही करती ?"

"कैसी शिकायत ? शिकवा कैसा ?" श्रीमती विश्वास ने बहुत भोलेपन के साथ पूछा।

"यही, मेरे बिजी रहने का।" मिस्टर विश्वास ने कहा, "मेरी व्यस्तताएँ कम हो गई हैं या तुमने अपने को बिजी कर लिया है ?"

और इतना कहकर मिस्टर विश्वास ने उन्हें सीने से लगा लिया।

मंजुला मिस्टर विश्वास के सीने में बच्चों की तरह दुबक गईं। उन्हें मिस्टर विश्वास के सीने मे बच्चों की तरह ऐसे दुबक जाना बड़ा अच्छा लगा। सीने मे दुबके-दुबके ही उन्होंने कहा, "न तो आपकी व्यस्तताएँ कम हुई है और न मैं बिजी रहती हूँ, पर हाँ, मैंने गिला-शिकवा करना अब छोड़ दिया है।"

"लेकिन क्यो ?" मिस्टर विश्वास ने मंजुला को मुक्त करते हुए पूछा।

"बस यों ही।" मंजुला ने उनकी टाई की नॉट ठीक करते हुए कहा।

"आखिर फिर भी, कोई तो कारण होगा ही।" मिस्टर विश्वास उनके गालों को थपथपाते हुए बोले, "अकारण तो दुनिया मे कुछ भी नही होता।"

"गिला-शिकवा करने से फायदा ही क्या ?" श्रीमती मंजुला विश्वास अब खुली।

तभी मिस्टर विश्वास बोल पड़े, "हर चीज के पीछे फायदा ही तो नही देखा जाता !"

"यह आप कह रहे है, मिस्टर मैनेजिंग डायरेक्टर !" मंजुला ने प्रेमपूर्ण व्यंग्य के स्वर में कहा।

"मैनेजिंग डायरेक्टर को छोड़ो।" मिस्टर विश्वास बोले, "बात करो अनिल विश्वास से, अपने पति से।"

"महोदय !" श्रीमती विश्वास ने फिर मजाक के अन्दाज मे कहा, "आप चौबीसों घंटे तो पति नही हैं न। असल में आप अधिकाश समय पति नही हैं, व्यस्त मैनेजिंग डायरेक्टर ही हैं। इसीलिए मैं अब इस नतीजे पर पहुंची हूँ कि आपको व्यस्त रहना ही है और मुझे आपकी इन व्यस्तताओं

मिस्टर विश्वास की फर्म में छुट्टी थी, लेकिन उन्हें ऑफिस जाना था। वह लम्बे टूर के बाद लौटे थे, लेकिन पाँच वर्ष के सुकुमार और पत्नी मंजुला से बातें करने की फुरसत उन्हें नहीं थी। एक बड़े 'एक्सपोर्ट आर्डर' की फाइल निबटाने के लिए ऑफिस जाना था और शाम को किसी 'पार्टी' से मिलना था।

व्यस्त डॉक्टर चौधरी भी रहते थे।

उदास, थके और रुग्ण चेहरों के बीच उनकी व्यस्तता अपने ढंग की थी; मिस्टर विश्वास की व्यस्तता से एकदम भिन्न। उनके जीवन में वैसी भागमभाग नहीं थी, जैसी कि मिस्टर विश्वास के जीवन में थी। लेकिन उनकी व्यस्तता भी कम थका देने वाली न थी। हर वक्त उदास, मुर्झाए और लटके हुए चेहरे किसी के सामने हों तो वैसे ही थकान लग जाए।

इस थकान से बचने के लिए ही डॉक्टर चौधरी इतवार के दिन पूरी छुट्टी रखते थे। इस दिन वह अपनी व्यस्तता को विश्राम दे देते थे। जब तक बहुत बड़ी मजबूरी ही न हो, तब तक वह इतवार के दिन मरीजों से कोई वास्ता नहीं रखते थे।

लेकिन इतवार की छुट्टी के दिन यह पहला मौका था जब उन्होंने श्रीमती मंजुला विश्वास के फोन के जवाब में कहा, "आना चाहती हैं तो अवश्य आइये। आपके लिए इस क्लीनिक और इस घर के दरवाजे हर वक्त खुले हैं।" यह दूसरा वाक्य उन्होंने तनिक अधिक आत्मीयतापूर्ण अंदाज में कहा।

श्रीमती मंजुला विश्वास को डॉक्टर चौधरी से इसी उत्तर की प्रतीक्षा थी—इतने ही आत्मीयतापूर्ण उत्तर की। उन्होंने जानबूझ कर डॉक्टर चौधरी को फोन किया था, यह जानते हुए भी कि इतवार के दिन उनका क्लीनिक बन्द रहता है। क्लीनिक में एक किनारे लगे 'समय' के बोर्ड में बड़े और साफ अक्षरों में लिखा था—'सण्डे क्लोज्ड।' अर्थात् रविवार को क्लीनिक बन्द।

कुछ ही देर बाद श्रीमती विश्वास की कार 'चौधरी क्लीनिक' के बाहर खड़ी थी। क्लीनिक बन्द था, लेकिन ऊपर जाने का रास्ता खुला हुआ था।

कार से उतर, सीढ़ियाँ चढती हुई श्रीमती मंजुला विश्वास भी डॉक्टर चौधरी के ठीक सामने आकर खड़ी हो गईं। डॉक्टर चौधरी ने मुस्करा कर उनका स्वागत किया लेकिन उन्होंने श्रीमती विश्वास से उनकी तबीयत के बारे मे नही पूछा। पूछने की जरूरत भी नही थी। उन्हे मालूम था कि मंजुला की तबीयत खराब नही है।

स्वय मंजुला विश्वास ने भी अपनी तबीयत के बारे में उनसे कुछ नही कहा। कहती भी क्यों। वह इसलिए तो डॉक्टर चौधरी के पास नही गई थी।

और जिस लिए गई थी, उसका जिक्र करने की जरूरत नही थी। उसे अनजाने ही डॉक्टर चौधरी ने मजुला की मुस्कान से जान लिया था। जान और समझ लिया था।

लेकिन फिर भी उन्होंने पूछा, "कहिये, कैसे तकलीफ की ?"

"की नही, तकलीफ दी।" मजुला ने मृदु मुस्कान बिखेरते हुए कहा। मुस्कान के साथ बरबस उभर आया उल्लास सम्पूर्ण कमरे मे गूँज उठा और इस गूँज के साथ ही मंजुला ने प्रश्न छेड दिया, "बैठने के लिए भी नही कहेंगे क्या ? या उसकी भी फीस देनी होगी ?"

डॉक्टर चौधरी बड़े सहज ढंग से उनके दाएँ हाथ की कलाई अपनी उँगलियों मे लेते हुए, उन्हें सोफे पर बैठाते हुए बोले, "अब आपसे भी कहना पडेगा कि बैठिये ? और फीस ? हाँ, फीस तो देनी ही होगी।" कहकर डॉक्टर चौधरी उन्मुक्त हँसी हँसे।

डॉक्टर चौधरी का उनकी कलाई और फिर हथेली को अपनी हथेली मे लेना श्रीमती विश्वास को बड़ा अच्छा लगा। इस स्पर्श मे एक अलग अनुभूति थी—अन्दर कही, गहराई तक गुदगुदी पैदा करने वाली अनुभूति, सारे तन-बदन में सिहरन भर देने वाली अनुभूति।

डॉक्टर चौधरी ने क्लीनिक मे पहले भी कई बार मंजुला की कलाई को स्पर्श किया था किन्तु क्लीनिक के ऊपर घर के ड्राइंग-रूम मे एकांत क्षणों में यह स्पर्श पिछले सब स्पर्शों से बिलकुल भिन्न था।

मिस्टर विश्वास से ऐसा स्पर्श पाने के लिए मंजुला विश्वास अक्सर बेचैन रहती थी, लेकिन उन्हें अपनी व्यस्तताओं के बीच इस सब को

फुरसत कहाँ थी ! और फिर शायद आयु के अन्तर ने भी मंजुला को ऐसे सुख से वंचित कर दिया था। भावनाओं का वैसा ज्वार मिस्टर विश्वास के मन में उठता ही नही था, जिसकी मजुला विश्वास को अपेक्षा थी। अपेक्षा से भी अधिक आवश्यकता। और तन ? तन के ज्वार की कौन कहे, जब मन मे ही ज्वार उठता हो।

रात के एकात क्षणों मे जब कभी मिस्टर विश्वास पास होते, तो श्रीमती विश्वास कहती, "कुछ बातें करो।"

वह बातें करते, लेकिन वे बातें नही जिन्हे सुनने के लिए मंजुला के हृदय की धडकनें बेचैन रहती थी।

वह बातें करते थे अपने दफ्तर की, कम्पनी के नफे-नुकसान की, नए आर्डर मिलने की, बाजार मे मंदी की। हर बार घूम-फिर कर यही बाते होती, केवल शब्द बदल जाते। एक बार, दो बार या दो-चार बार किसी को यह बातें भी अच्छी लग सकती है, मजुला को भी अच्छी लग जाती थी, लेकिन हर बार इन्ही बातों को सुनते-सुनते मजुला विश्वास को ऊब होने लगती और इसी ऊब मे वह मुंह पलट कर सो जाती। और मिस्टर विश्वास एक बार भी न कहते कि मुंह तो इधर कर लो। मिस्टर विश्वास खुद भी खर्राटे लेने लगते।

तब आधी रात को एकाएक नीद खुलने पर मजुला स्वय ही मिस्टर विश्वास से लिपट कर सो जाती, बूढे पेड पर लिपटी हरी-भरी लता की भाँति। वह भी मिस्टर विश्वास के होंठो से स्पर्श करती, कभी उनके घुँघराले बालो से खेलने लगती, कभी उनके माथे पर ढेर सारे चुम्बन ही चुम्बन अकित करती जाती और कभी उनकी छाती के घने बालों के बीच अपना सिर फँसा लेती।

लेकिन मिस्टर विश्वास की नीद फिर भी न खुलती। अधिक से अधिक वह नीद ही नीद मे अँगड़ाई लेकर दूसरी ओर पलट जाते और युवा श्रीमती मजुला विश्वास इस सुख से भी वंचित हो जाती फिर पहले से भी अधिक ऊब उन्हे आ घेरती।

इसी ऊब और मिस्टर विश्वास की चढ़ती उम्र ने मिलकर श्रीमती

विश्वास को डॉक्टर चौधरी के करीब ला दिया ।

इसलिए इतवार के दिन जिस समय मिस्टर विश्वास अपने कार्यालय के कमरे मे कार्यव्यस्त थे, श्रीमती मंजुला विश्वास ईस्ट एण्ड में 'चौधरी क्लीनिक' के ऊपर डॉक्टर चौधरी के ड्राइंग-रूम से होते हुए उनके बैड-रूम मे पहुँच गई थी । एकांत के उन क्षणों में डॉक्टर चौधरी के साथ जो अप्रतिम अनुभूति उन्हे हुई थी, वह मिस्टर विश्वास से मिलनी दुर्लभ थी। उन क्षणो मे वह मिस्टर विश्वास को ही नही, सुकुमार को भी भुला बैठी थी। आनन्द के वे क्षण सब कुछ भुला देने के लिए ही थे। जीवन क्या होता है, यह उन्हे उसी समय महसूस हुआ था, जब डॉक्टर चौधरी की बाँहे उन्हें अपनी परिधि मे समेटती और बाँधती चली गई थी और वह अपने को मुक्त कराने का अनुरोध भरा अभिनय करते हुए मन ही मन चाह रही थी कि युवा डॉक्टर चौधरी उन्हें अपनी बाँहों में और अधिक समेटते चले जाएँ, इतना अधिक कि वह फिर कभी मुक्त हो न हों।

डॉक्टर चौधरी ने जब अपने उबलते हुए होंठ उनके अधरों पर रख दिये तो वह मानो नयन मूंद कर प्यार के खुमार में डूबती चली गई। कितना मदहोश कर दिया था डॉक्टर चौधरी ने उन एकांत क्षणों में ! उस दिन को याद कर बाद-बाद को भी मंजुला के शरीर में एक रेशमी सिहरन सी होने लगती। डॉक्टर चौधरी उन्हे बार-बार, न जाने कितनी बार चूम रहे थे। चूम रहे थे अलकों को, पलकों को, माथे को, होठों को······

उन्हे पता भी न चला कि कब डॉक्टर चौधरी ने उनका एक-एक वस्त्र हटा कर, उन्हें धीरे-धीरे निर्वसन करके सम्पूर्णता के साथ अपने में समेट लिया। और जब पता चला तो मंजुला डॉक्टर चौधरी के पलंग पर एक ओर निढाल चुपचाप लेटी हुई थी। डनलप के गद्दे पर रेशमी चादर हल्की सी सिमट गई थी और डॉक्टर चौधरी उठकर खिड़की के पास चले गए थे और सिगरेट होठों पर लगा खिड़की से बाहर देख रहे थे।

यह सब कैसे हुआ, इसका अहसास शुरू में न तो ठीक से मंजुला को हो सका और न डॉक्टर चौधरी को ही। और जब अहसास हुआ, तब भी न मंजुला को इसका अफसोस था और न डॉक्टर चौधरी को।

हाँ, इस अहसास के बाद श्रीमती मंजुला विश्वास के जीवन में एक परिवर्तन अवश्य आ गया। यह एक विचित्र परिवर्तन था। वह उस घर-संसार से दिन-ब-दिन ज्यादा, और ज्यादा विमुख होने लगी, जहाँ छह साल पहले एक साधारण परिवार से लाकर मिस्टर विश्वास ने उन्हें अपने छोटे से साम्राज्य की सम्राज्ञी बना दिया था। वह अब उस ड्राइंग-रूम, उस डबल बैंड, उस सोफे, उस डाइनिंग-टेबल आदि सभी के प्रति विमुख होती चली गईं। यहाँ तक कि अपने प्यारे सुकुमार की ओर भी अब वह अधिक ध्यान न देतीं।

श्रीमती मंजुला विश्वास सवेरे जल्दी उठने की आदी थीं। लेकिन अब यह आदत पुरानी, बीते दिनों की बात हो गई थी। अब? सवेरे जल्दी-जल्दी उठने की आदी श्रीमती मंजुला विश्वास अब डॉक्टर चौधरी की दी हुई स्लीपिंग-पिल्स के नशे में देर तक सोई रहतीं और तब तक सुकुमार स्कूल जा चुका होता।

अब वह रात के एकान्त में मिस्टर विश्वास से न कहतीं कि कुछ बातें करो।

अब उन्हें अक्सर बगल के पलंग का खाली रहना न खलता।

अब उन्हें मिस्टर विश्वास की व्यस्त जिन्दगी से ज्यादा परेशानी न होती।

अब वह मिस्टर विश्वास के टूर से लौटने की विकल प्रतीक्षा न करतीं।

उनके जीवन में अद्‌भुत परिवर्तन आ गया था। और यह अद्‌भुत परिवर्तन ला दिया था डॉक्टर चौधरी ने।

और स्वयं डॉक्टर चौधरी के जीवन में भी तो परिवर्तन आ गया था। कुछ सीमा तक अद्‌भुत ही। अब वह औरतों की घोर उपेक्षा नहीं करते थे। चेहरे के ऊपर जो एक और चेहरा वह अक्सर ओढ़ लेते थे, उसे उन्होंने हटा दिया था। केवल हटाया ही नहीं था, बल्कि उतार फेंका था। अब उनका एक ही व्यक्तित्व था—क्लीनिक में भी और क्लीनिक के बाहर भी।

लेकिन श्रीमती मंजुला विश्वास के अब दो व्यक्तित्व हो गए थे—घर में, मिस्टर विश्वास के सामने एक व्यक्तित्व जिसमें एक अजीब चिड़चिड़ा-

"परछाईं से तो मुक्ति नहीं पा सकता," डॉक्टर चौधरी ने कहा था, "लेकिन परछाईं तो सिर्फ परछाईं है, एक व्यक्तित्व पर आरोपित दूसरा व्यक्तित्व नहीं। मैं कब कहता हूँ कि तुम अपनी परछाईं से मुक्ति पाओ, मैं तो चाहता हूँ कि तुम अपने दोहरे व्यक्तित्व से मुक्त हो जाओ।"

श्रीमती विश्वास कुछ बोली नहीं थीं।

बोले थे डॉक्टर चौधरी ही, "आज नहीं तो कल तुम्हें निर्णय लेना ही है, लेकिन जितनी देर करोगी जीवन की सम्पूर्ण खुशियों को पाने से उतनी ही देर वंचित भी रहोगी।"

"सो तो ठीक है, लेकिन···"

"लेकिन का आशय यदि किसी संशय से है तो मेरी तरफ से तुम्हारा सदा स्वागत है।" डॉक्टर चौधरी ने उन्हें बाँहों में भरते हुए कहा था।

श्रीमती मंजुला विश्वास उनकी बाँहों के दायरों में सिमट कर भी जैसे किसी असमंजस में पड़ी थीं। यह दुहरा व्यक्तित्व था जो उन्हें इस असमंजस से मुक्त नहीं होने दे रहा था।

उन्हें बाँहों में लिये-लिये ही डॉक्टर चौधरी कहीं दूर खो गए थे—बीते हुए समय की दुनिया में। फिर उन्होंने मंजुला विश्वास को उस बीते हुए समय की याद दिलाते हुए कहा था, "याद है वह इतवार जब तुमने मुझे फोन किया था?"

मंजुला को वह इतवार याद था। उस इतवार का एक-एक पल याद था। उस दिन का डॉक्टर चौधरी के होंठों का तप्त स्पर्श याद था और याद था सम्पूर्ण तन-मन से समर्पित हो जाने का वह नाटक। नाटक, जो आगे जाकर जीवन की सत्यकथा में बदल गया था।

डॉक्टर चौधरी कह रहे थे, "मैंने उस दिन भी तुमसे कहा था कि तुम्हारे लिए इस क्लीनिक और इस घर के दरवाजे हर वक्त खुले हैं—सुबह-शाम, दिन-रात। अंतर केवल इतना है कि तब मैंने 'तुम' नहीं 'आप' कहा था। आज इतने दिनों में हम दोनों ही 'तुम' और 'आप' के इस अंतर को मिटा चुके हैं। हम दोनों औपचारिकताओं की सीमाओं को बहुत पीछे छोड़ आए हैं। तब फिर किसी निश्चय पर पहुँचने में अनिश्चय कैसा?

श्रीमती मंजुला विश्वास फिर भी चुप ही रही थीं, हालाँकि वह जानती

पन, एक अजीब लापरवाही, सुकुमार और मिस्टर विश्वास दोनों के ही प्रति एक अजीब उपेक्षा का भाव आता जा रहा था। घर से बाहर, विशेष रूप से डॉक्टर चौधरी के समक्ष उनका दूसरा व्यक्तित्व था जिसमें खुशमिजाजी और यौवन की अल्हड़ता शामिल थी। दरअसल मंजुला विश्वास में यौवन के इस अल्हड़पन पर ही तो डॉक्टर चौधरी रीझ उठे थे। इस अल्हड़पन ने उन्हें सहज ही आकर्षित कर लिया था।

यौवन ? हाँ, यौवन ही।

मंजुला विश्वास के पास कितना सारा यौवन था !

मंजुला की अभी उम्र ही क्या थी—मुश्किल से पच्चीस वर्ष। पच्चीस वर्ष की उम्र में यौवन केवल होता ही नहीं, बल्कि छलकता रहता है।

पच्चीस साल की उम्र वाली किसी महिला का पति यदि उससे पन्द्रह-बीस साल बड़ा हो तो कैसा अजीब लगता है। तब फिर भावनाओं का ज्वार कब तक अपनी सीमाओं में बँधा रह सकता है ? वह आखिर सीमाओं को तोड़ेगा ही, उनका अतिक्रमण करेगा ही। मन के समुद्र में लहरें उठेंगी ही और लहरों को किनारे की तलाश होगी ही।

श्रीमती मंजुला विश्वास के लिए डॉक्टर चौधरी भी एक ऐसे ही किनारे की भाँति थे। इस किनारे से टकराकर उनके मन की लहरों को सकून मिलता था।

लेकिन यह सकून कुछ ही देर के लिए मिल पाता था, जब वह डॉक्टर चौधरी के निकट होतीं। अधिकांश समय तो भावनाओं का ज्वार उमड़ता ही रहता था। यह एक ऐसा ज्वार था जो उन्हें अशांत बना देता था, बेचैन कर देता था। आखिर कोई अपने दोहरे व्यक्तित्व को बहुत समय तक लगातार कैसे ढो सकता है !

इसीलिए डॉक्टर चौधरी ने भी तो एक दिन श्रीमती विश्वास से कह ही दिया था, "इस तरह दोहरे व्यक्तित्व को ढोते चले जाने से क्या फायदा !"

श्रीमती विश्वास ने प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष उत्तर दिया था, "व्यक्ति चलता है तो उसके साथ उसकी परछाईं भी चलती है। भला कोई अपनी परछाईं से मुक्ति पा सकता है ?"

"परछाईं से तो मुक्ति नही पा सकता," डॉक्टर चौधरी ने कहा था, "लेकिन परछाईं तो सिर्फ परछाईं है, एक व्यक्तित्व पर आरोपित दूसरा व्यक्तित्व नही। मैं कब कहता हूँ कि तुम अपनी परछाईं से मुक्ति पाओ, मैं तो चाहता हूँ कि तुम अपने दोहरे व्यक्तित्व से मुक्त हो जाओ।"

श्रीमती विश्वास कुछ बोली नही थी।

बोले थे डॉक्टर चौधरी ही, "आज नही तो कल तुम्हे निर्णय लेना ही है, लेकिन जितनी देर करोगी जीवन की सम्पूर्ण खुशियों को पाने से उतनी ही देर वंचित भी रहोगी।"

"सो तो ठीक है, लेकिन···"

"लेकिन का आशय यदि किसी संशय से है तो मेरी तरफ से तुम्हारा सदा स्वागत है।" डॉक्टर चौधरी ने उन्हे बाँहो मे भरते हुए कहा था।

श्रीमती मंजुला विश्वास उनकी बाँहों के दायरे मे सिमट कर भी जैसे किसी असमजस मे पडी थी। यह दुहरा व्यक्तित्व था जो उन्हे इस असमंजस से मुक्त नही होने दे रहा था।

उन्हें बाँहो मे लिये-लिये ही डॉक्टर चौधरी कही दूर खो गए थे—बीते हुए समय की दुनिया मे। फिर उन्होने मंजुला विश्वास को उस बीते हुए समय की याद दिलाते हुए कहा था, "याद है वह इतवार जब तुमने मुझे फोन किया था?"

मजुला को वह इतवार याद था। उस इतवार का एक-एक पल याद था। उस दिन का डॉक्टर चौधरी के होठो का तप्त स्पर्श याद था और याद था सम्पूर्ण तन-मन से समर्पित हो जाने का वह नाटक। नाटक, जो आगे जाकर जीवन की सत्यकथा मे बदल गया था।

डॉक्टर चौधरी कह रहे थे, "मैंने उस दिन भी तुमसे कहा था कि तुम्हारे लिए इस क्लीनिक और इस घर के दरवाजे हर वक्त खुले हैं—सुबह-शाम, दिन-रात। अतर केवल इतना है कि तब मैंने 'तुम' नही 'आप' कहा था। आज इतने दिनों में हम दोनों ही 'तुम' और 'आप' के इस अतर को मिटा चुके है। हम दोनों औपचारिकताओं की सीमाओं को बहुत पीछे छोड आए है। तब फिर किसी निश्चय पर पहुँचने मे अनिश्चय कैसा?

श्रीमती मंजुला विश्वास फिर भी चुप ही रही थी, हालाँकि वह जानती

पन, एक अजीब लापरवाही, सुकुमार और मिस्टर विश्वास दोनों के ही प्रति एक अजीब उपेक्षा का भाव आता जा रहा था। घर से बाहर, विशेष रूप में डॉक्टर चौधरी के समक्ष उनका दूसरा व्यक्तित्व था जिसमें खुशमिजाजी और यौवन की अल्हड़ता शामिल थी। दरअसल मंजुला विश्वास में यौवन के इस अल्हड़पन पर ही तो डॉक्टर चौधरी रीझ उठे थे। इस अल्हड़पन ने उन्हें सहज ही आकर्षित कर लिया था।

यौवन? हाँ, यौवन ही।

मंजुला विश्वास के पास कितना सारा यौवन था!

मंजुला की अभी उम्र ही क्या थी—मुश्किल से पच्चीस वर्ष। पच्चीस वर्ष की उम्र में यौवन केवल होता ही नहीं, बल्कि छलकता रहता है।

पच्चीस साल की उम्र वाली किसी महिला का पति यदि उससे पन्द्रह-बीस साल बड़ा हो तो कैसा अजीब लगता है। तब फिर भावनाओं का ज्वार कब तक अपनी सीमाओं में बँधा रह सकता है? वह आखिर सीमाओं को तोड़ेगा ही, उनका अतिक्रमण करेगा ही। मन के समुद्र में लहरें उठेंगी ही और लहरों को किनारे की तलाश होगी ही।

श्रीमती मंजुला विश्वास के लिए डॉक्टर चौधरी भी एक ऐसे ही किनारे की भाँति थे। इस किनारे से टकराकर उनके मन की लहरों को सकून मिलता था।

लेकिन यह सकून कुछ ही देर के लिए मिल पाता था, जब वह डॉक्टर चौधरी के निकट होतीं। अधिकांश समय तो भावनाओं का ज्वार उमड़ता ही रहता था। यह एक ऐसा ज्वार था जो उन्हें अशांत बना देता था, बेचैन कर देता था। आखिर कोई अपने दोहरे व्यक्तित्व को बहुत समय तक लगातार कैसे ढो सकता है!

इसीलिए डॉक्टर चौधरी ने भी तो एक दिन श्रीमती विश्वास से कह ही दिया था, "इस तरह दोहरे व्यक्तित्व को ढोते चले जाने से क्या फायदा!"

श्रीमती विश्वास ने प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष उत्तर दिया था, "व्यक्ति चलता है तो उसके साथ उसकी परछाईं भी चलती है। भला कोई अपनी परछाईं से मुक्ति पा सकता है?"

"परछाईं मे तो मुक्ति नही पा सकता," डॉक्टर चौधरी ने कहा था, "लेकिन परछाईं तो सिर्फ परछाईं है, एक व्यक्तित्व पर आरोपित दूसरा व्यक्तित्व नही। मैं कब कहता हूँ कि तुम अपनी परछाईं से मुक्ति पाओ, मै तो चाहता हूँ कि तुम अपने दोहरे व्यक्तित्व से मुक्त हो जाओ।"

श्रीमती विश्वास कुछ बोली नही थी।

बोले थे डॉक्टर चौधरी ही, "आज नही तो कल तुम्हे निर्णय लेना ही है, लेकिन जितनी देर करोगी जीवन की सम्पूर्ण खुशियों को पाने से उतनी ही देर वचित भी रहोगी।"

"सो तो ठीक है, लेकिन···"

"लेकिन का आशय यदि किसी संशय से है तो मेरी तरफ से तुम्हारा सदा स्वागत है।" डॉक्टर चौधरी ने उन्हें बाँहो मे भरते हुए कहा था।

श्रीमती मंजुला विश्वास उनकी बाँहो के दायरों मे सिमट कर भी जैसे किसी असमजस मे पडी थी। यह दुहरा व्यक्तित्व था जो उन्हे इस असमंजस से मुक्त नही होने दे रहा था।

उन्हें बाँहो में लिये-लिये ही डॉक्टर चौधरी कही दूर खो गए थे—बीते हुए समय की दुनिया में। फिर उन्होंने मजुला विश्वास को उस बीते हुए समय की याद दिलाते हुए कहा था, "याद है वह इतवार जब तुमने मुझे फोन किया था?"

मंजुला को वह इतवार याद था। उस इतवार का एक-एक पल याद था। उस दिन का डॉक्टर चौधरी के होंठो का तप्त स्पर्श याद था और याद था सम्पूर्ण तन-मन से समर्पित हो जाने का वह नाटक। नाटक, जो आगे जाकर जीवन की सत्यकथा मे बदल गया था।

डॉक्टर चौधरी कह रहे थे, "मैंने उस दिन भी तुमसे कहा था कि तुम्हारे लिए इस क्लीनिक और इस घर के दरवाजे हर वक्त खुले है—सुबह-शाम, दिन-रात। अतर केवल इतना है कि तब मैंने 'तुम' नही 'आप' कहा था। आज इतने दिनों मे हम दोनों ही 'तुम' और 'आप' के इस अतर को मिटा चुके हैं। हम दोनों औपचारिकताओं की सीमाओ को बहुत पीछे छोड आए हैं। तब फिर किसी निश्चय पर पहुँचने मे अनिश्चय कैसा?

श्रीमती मंजुला विश्वास फिर भी चुप ही रही थी, हालाँकि वह जानती

थी कि अधिक समय तक चुप रहना संभव ही नहीं है। उनके मन में ज्वार और तेज हो गया था जो मन के हर कोने का स्पर्श कर रहा था। सागर में लहरें जोर से, और-और जोर से उठने लगी थीं। श्रीमती विश्वास को लग रहा था कि इन लहरों से बच पाना अब मुश्किल है। अब डूबना ही पड़ेगा।

दरअसल वह अब एक ऐसे चौराहे पर खड़ी थीं जहाँ से दो राहें निकलती थीं। वह दोनों राहों से चिर-परिचित थीं, लेकिन अब उन्हें किसी एक राह पर जाने का निर्णय करना ही था।

और एक दिन आखिर श्रीमती मंजुला विश्वास ने निर्णय कर ही लिया। वह प्राइवेट फर्म के मैनेजिंग डायरेक्टर मिस्टर विश्वास के संसार को छोड़कर सहसा डॉक्टर चौधरी की दुनिया में चली आईं।

यह निर्णय लेते समय उन्हें कितनी तकलीफ हुई, यह वही जानती थीं। कितनी मर्मांतक पीड़ा थी वह! ऐसी पीड़ा जो अन्दर ही अन्दर बुरी तरह कुरेद कर रख देती है और कभी-कभी व्यक्ति को खोखला भी बना देती है।

मिस्टर विश्वास ने कोई आपत्ति नहीं की थी। आपत्ति उन्होंने की थी उन दिनों जब मंजुला के व्यवहार में परिवर्तन आने लगा था और जब धीरे-धीरे उनके सामने तस्वीर स्पष्ट होने लगी थी। तब मंजुला पर उनकी आपत्तियों का कोई असर नहीं पड़ा था। और अब वह आपत्ति करने की स्थिति से ऊपर उठ चुके थे।

जिसके साथ दाम्पत्य-सूत्र में बँध कर आई थीं, जिसने उन्हें सुकुमार दिया था जब उसी ने निर्णय के क्षणों में कोई विशेष आपत्ति नहीं की तो तकलीफ होनी नहीं चाहिए थी, किन्तु इतना अंतरंग व्यक्ति भी निर्णायक क्षणों में आपत्ति न करे तो दरअसल तकलीफ अपनी चरम सीमा में पहुँच जाती है। यही मंजुला के साथ हुआ था।

मिस्टर विश्वास ने उन्हें जाने दिया था, किन्तु सुकुमार को साथ नहीं ले जाने दिया था। मंजुला ने कितना चाहा था कि सुकुमार उन्हें मिल जाए, किन्तु नहीं, सुकुमार के प्रश्न पर मिस्टर विश्वास अपनी जगह दृढ़ हो गए थे।

और जिस दिन मंजुला घर छोडकर गई, उसी के दूसरे दिन मिस्टर विश्वास ने सुकुमार को नैनीताल के एक कॉन्वेन्ट मे भर्ती करवा दिया था। सुकुमार को दाखिला दिलाने मिस्टर विश्वास स्वय नैनीताल ले गए थे ताकि उसे पता न चले कि उसकी मम्मी उसे सदा के लिए छोड़कर चली गई है।

ऊपर से लगता था कि लहरो को किनारा मिल गया है।

लेकिन क्या मन के समुद्र में उठा ज्वार शात हो गया था? नही। उसने चारों ओर तूफान ला दिया था। तूफान, जिसने हलचल मचा दी थी।

मजुला के जीवन मे हलचल मच गई थी। और तूफान था कि थमता ही नही था। किनारे पर खड़े डॉक्टर चौधरी ने उन्हें आगे बढ़कर बाँहो मे ले लिया था, लेकिन आँखों के आगे से दूर हो चुके सुकुमार के कारण तूफान के थपेड़े उन्हें बुरी तरह घायल कर रहे थे। डॉक्टर चौधरी का इलाज तन को तो ठीक कर सकता था, लेकिन मन की बीमारी मानो ठीक होने का का नाम ही न लेती थी।

औरत अपने पति को छोड सकती है, लेकिन संतान से अलग होना इतना आसान नही होता। मिस्टर विश्वास से अलग होने के पूर्व मजुला भले ही सुकुमार के प्रति लापरवाह हो गई थी, लेकिन सुकुमार का एकदम ही आँखों के आगे से हट जाना उन्हे स्वीकार न था।

किन्तु स्वीकार होने न होने से क्या होता है! इस सच्चाई से इन्कार ही नही किया जा सकता था कि मिस्टर विश्वास का घर छूटने के साथ ही सुकुमार भी उनसे छूट गया था।

"सुकुमार! सुकुमार!" वह अक्सर नीद मे बड़बड़ा उठती, मानो समुद्र मे ज्वार उठ रहा हो, ज्वार ही नही तूफान भी उठ रहा हो। एक ऐसा तूफान जो उन्हें पूरी तरह अपनी गिरफ्त मे ले लेगा और नेस्तनाबूद कर देगा।

मजुला की इस तकलीफ को डॉक्टर चौधरी जानते थे। वह जानते थे कि इस तकलीफ का इलाज चिकित्सा-विज्ञान में नही है। इस तकलीफ का इलाज कही नही है। वह जानते थे कि यह एक ऐसी पीड़ा है जो कुछ कम तो

हो सकती है, लेकिन हमेशा-हमेशा के लिए खत्म नही हो सकती। पुरुष भले ही इस पीड़ा से मुक्त हो जाए, किन्तु औरत के लिए इससे मुक्ति संभव नही है।

"सुनो, क्या सुकुमार हमें नही मिल सकता ?" मंजुला ने एक दिन—बहुत दिनों के विचार-मथन के बाद एक दिन—डॉक्टर चौधरी से पूछ ही लिया था।

"सुकुमार तो नही मिल सकता, लेकिन‥‥" कहकर डॉक्टर चौधरी मंजुला के बालों से खेलने लगे थे।

"लेकिन क्या ?" मंजुला ने पूछा था।

"यही कि वह तो नहीं मिल सकता किन्तु उसके अभाव की पूर्ति अवश्य हो सकती है।" डॉक्टर चौधरी ने पलंग पर रात के एकान्त मे मंजुला को अपनी ओर खीचते हुए कहा था।

मंजुला विश्वास, नही मंजुला चौधरी, उनका आशय समझ गई थी, फिर भी उन्होंने पूछ ही तो लिया था, "कैसे ?"

"ऐसे !" डॉक्टर चौधरी ने मंजुला के होठों पर चुम्बन अंकित करते हुए कहा था, "और ऐसे !"

उन्होंने अब मंजुला को पूरी तरह से अपनी बाँहों मे कैद कर लिया था। यही कैद थी जिसे पाने के लिए मंजुला ने मिस्टर विश्वास से मुक्ति पा ली थी।

कैसा विरोधाभास है ! कैद पाने के लिए मुक्ति। एक और बन्धन में आने के लिए बन्धनों से मुक्ति। लेकिन पहला बन्धन, बन्धन था ही कहाँ, वह तो महज घर की चारदीवारियों मे कैद थी। मिस्टर विश्वास के बन्धन भी भला बन्धन थे ? उनकी कैद भी भला कोई कैद थी ? कैद जैसी कैद होती तो मंजुला उससे छुटकारा पा ही कहाँ सकती थी ? छुटकारा पाने की इच्छा भी न होती और वह सम्पूर्ण जीवन कारावास भुगतने के लिए सहर्ष तैयार रहती।

मिस्टर विश्वास की कैद में तो कोठी थी, कार थी, फ्रिज था, टी०वी० था, गीजर था, ऊँचे-ऊँचे वारड्रोब्ज थे, घर की समस्त आधुनिक साज-सज्जा थी, बस वह कैद ही नही थी जिससे मुक्ति पाने की कल्पना भी

औरत के मन मे नही उठती ।

वह कैद नही थी, इसीलिए मंजुला के मन मे मुक्ति की इच्छा जाग उठी थी। जाग उठी थी और प्रबल होती गई थी। और एक दिन उन्होंने इस अधूरी कैद से मुक्ति पाकर पूरी कैद को स्वीकार कर ही लिया था।

अधूरी कैद से पूरी कैद मे जाने की इस प्रक्रिया मे उन्हे कोई तकलीफ नही हुई थी। लेकिन जब उन्होंने इस पूरी कैद को स्वीकार कर लिया तो सुकुमार का दर्द उन्हे बेतरह सालने लगा था।

"ऐसे···और ऐसे," कह कर उनके अधरों पर अपने अधर रखते हुए डॉक्टर चौधरी ने जब उन्हे अपनी बाँहों में और कसकर लपेट लिया तो वह कुछ देर के लिए सुकुमार के दर्द को भूल गई थी। ऐसे पलों मे वह अक्सर इस दर्द को भूल जाती थी। वह अब उस ससार मे आ गई थी जिसके लिए वह बहुत समय तक तड़पती रही थी। यह एक ऐसा संसार था जो उन्हे मिस्टर विश्वास कभी-कभार ही दे पाते थे।

वह मिस्टर विश्वास से कहती, "कल फिल्म चलेगे ?"

जवाब मिलता, "कल तो बम्बई से एक पार्टी आ रही है। डिनर भी उन्ही के साथ लेना है। कई लाख के सौदे का मामला है।"

और अगले दिन दोपहर जिस समय खाने की मेज पर मजुला को उनकी प्रतीक्षा होती, ऑफिस से उनके पी० ए० का फोन आता, "आज साहब लंच लेने नही जा सकेंगे।"

यानी लंच और डिनर दोनों ही नही।

मंजुला विश्वास पति की इस व्यस्तता से ऊब गई थी। वह थकी हुई और बेचैन रहने लगी थी। बेचैन और उदास। तभी एक दिन सुकुमार ने उनसे पूछ लिया था, "मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों हैं ?"

वह क्या उत्तर देती ! और यदि उत्तर देती भी तो क्या इतना छोटा सुकुमार कुछ समझता ? इसलिए उत्तर देने की बजाय वह मुस्करा दी थी। सुकुमार उनकी मुस्कान पर ही खुश हो गया था।

लेकिन श्रीमती मंजुला विश्वास के होठों पर जितना तेजी से मुस्कान आई थी, उतनी ही तेजी से गायब भी हो गई थी। और यह भी नन्हे

सुकुमार ने देख लिया था। लेकिन देखकर वह चुप ही रहा था। बल्कि उसने मुँह दूसरी ओर कर लिया था। पता नहीं जानबूझ कर या अनजाने ही। उसने दोबारा नहीं पूछा था मंजुला से कि मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों हैं? लेकिन मंजुला को लगा था कि मानो सुकुमार उनसे यह प्रश्न फिर पूछ रहा है, बार-बार पूछ रहा है।

बाद में भी बहुत दिनों तक मंजुला को लगता कि सुकुमार का यह प्रश्न उनका पीछा कर रहा है। अक्सर इस प्रश्न की गूँज उन्हें अन्दर मानो किन्हीं दीवारों से टकराती हुई सुनाई पड़ती।

सुकुमार स्कूल गया होता, लेकिन मंजुला को लगता कि वह सामने ही खड़ा है और पूछ रहा है, 'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों हैं?'

सुकुमार आँखें मूँदे हुए सोया होता, किन्तु किसी मैगजीन पर नजरें गड़ाए हुए कथा-कहानी पढ़ने की असफल कोशिश करती मंजुला को लगता, उनके गालों को कोमल उँगलियों के स्पर्श से अपनी ओर घुमा कर सुकुमार पूछ रहा है, 'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों है?'

'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों हैं?'

'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों हैं?'

मंजुला की नजरें मैगजीन से हटकर पलंग के दूसरे हिस्से पर चली जातीं, जो ज्यादातर खाली ही रहता, क्योंकि मिस्टर विश्वास कभी बम्बई गए होते, कभी कलकत्ता, कभी मद्रास।

श्रीमती मंजुला विश्वास को लगता कि मानो सुकुमार के ये शब्द हर वक्त कानों में बज रहे हों।

और अब डॉक्टर चौधरी के संसार में आकर भी उनके अंतर्मन में सुकुमार के इन शब्दों की अक्सर गूँज-सी सुनाई देती। उन्हें लगता कि उनके चारों ओर, चारों दिशाओं में ये शब्द जड़ गए हैं या शायद जड़ दिये गए हैं।

उन्हें लगता कि वह समुद्र के किनारे दूर तक फैली रेत पर तेजी, और तेजी, और तेजी से भाग रही हैं, और सुकुमार इस प्रश्न को दोहराता हुआ उनका पीछा कर रहा है।

उन्हें लगता कि वह रेत छोड़कर समुद्र की लहरों की ओर बढ़ चली

हैं और लहरो पर और अथाह जलराशि पर भागती, और भागती चली जा रही है, पर सुकुमार है कि उनका पीछा ही नही छोड रहा।

वह ठहर कर, पीछे मुडकर देखती, दूर-दूर तक कही भी सुकुमार नजर नही आता। लेकिन उसके शब्द फिर भी उनका पीछा नहो छोड़ते। लगता कि चारो दिशाओं मे यही शब्द गूँज रहे है, 'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यों है ?'

'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यो है ?'

'मम्मी, आप इतनी परेशान क्यो है ?'

हाँ, सच, डॉक्टर चौधरी के संसार मे आकर भी ये शब्द उनका पीछा न छोडते।

लेकिन अब इन शब्दों का अर्थ बदल गया था। वह मिस्टर विश्वास की व्यस्तताओ के कारण परेशान नही रहती थी। अब मिस्टर विश्वास सामने थे ही कहाँ। वह और उनकी व्यस्तताएँ बहुत पीछे छूट गई थी। अब वह परेशान रहती थी स्वयं सुकुमार के ही कारण।

अक्सर उन्हे लगता, सुकुमार सामने खडा है। वह बेचैन हो उठती। सब कुछ छोड-छाड कर, झटक कर, सारे बन्धन तोड-ताड़ कर भाग जाना चाहती किन्ही अनजान दिशाओ मे। तभी उन्हे लगता, सामने खडा सुकुमार कह रहा है, 'मम्मी, सुनो। सुनो तो, मम्मी।'

वह कान बन्द कर लेना चाहती। और सचमुच वह दोनो कानों पर हथेलियाँ रख लेती। लेकिन फिर भी कोई फर्क न पडता। सुकुमार मानो कह रहा होता, 'मम्मी, चलो, बहुत हो गया, अब वापस चलो।'

वह दोनों कानों मे कसकर उँगलियाँ फँसा लेती। लेकिन इससे भी कोई अन्तर न पड़ता। दोनों कानो मे लगता, समुद्र गूँज रहा है, या एक अमूर्त-सा शोर मच रहा है। उन्हें लगता, गूँजते हुए समुद्र के बीच से अथवा अमूर्त शोर के मध्य से उठ खडा होकर सुकुमार कह रहा है, 'मम्मी, सुनोगी नही ? वापस नही चलोगी क्या ?'

वह पलट कर दूसरी ओर मुँह कर लेती और कान ही बन्द नही करती आँखे भी मूँद लेती, लेकिन सुकुमार फिर भी सामने से न हटता। उन्हे

लगता, वह जिस ओर मुँह करती है, उसी ओर ठीक सामने आकर सुकुमार कह रहा है, 'मम्मी, चलो। मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें ले जाने आया हूँ।'

वह चीख पड़ना चाहती और एक झटके से कानों से उँगलियाँ हटा लेती और मुँदी हुई आँखें खोल देती। आश्चर्य का ठिकाना न रहता—सामने सुकुमार न होता। कोई भी तो न होता सामने।

अनुपस्थित होकर भी सुकुमार की यह उपस्थिति विचित्र थी। अत्यंत कष्टकर। पीड़ादायक।

अक्सर मंजुला को लगता, ग्रे हाफ पैण्ट और नीले ब्लेजर में कॉन्वेंट की सुर्ख-नीली-सफेद धारियों वाली टाई पहने सामने खड़ा सुकुमार कह रहा है, 'मम्मी, अब लौट आओ। पापा बड़े परेशान रहते हैं तुम्हारे बिना।'

लेकिन मंजुला कुछ कहे, इसके पहले ही सुकुमार आँखों के आगे से ओझल हो जाता।

और उसके स्थान पर सामने आ खड़े होते मिस्टर विश्वास—अपने कार्यालय में व्यस्त, या एयरपोर्ट में प्लेन की ओर जाते हुए या मध्यरात्रि में एरोप्लेन से उतरकर लाउंज की ओर आते हुए अथवा किसी एक्सपोर्ट हाउस के मैनेजिंग डायरेक्टर के साथ स्कॉच के पैग पर बिजनेस तय करते हुए। मंजुला मन ही मन कहती, 'परेशान कहाँ हैं वह? उनकी तो व्यस्तताएँ अब भी वैसी की वैसी ही हैं।'

सचमुच परेशान नहीं थे मिस्टर विश्वास। और, सुकुमार? वह तो नैनीताल के एक कॉन्वेंट में था। परेशान थी सिर्फ मंजुला। लेकिन यह परेशानी मिस्टर विश्वास के लिए नहीं थी, यह परेशानी थी सुकुमार के लिए, और सुकुमार के कारण।

और डॉक्टर चौधरी जानते थे कि यह परेशानी एकदम से खत्म नहीं हो सकती। हाँ, समय बीतने के साथ कम अवश्य हो सकती है।

ऐसा ही हुआ।

समय बीतने के साथ ऐसा ही हुआ, जब मंजुला के जीवन में सुकुमार का स्थान ले लिया सुप्रिया ने।

सुप्रिया ?

डॉक्टर चौधरी की वेटी।

मंजुला की वेटी।

उन दोनो की वेटी।

डॉक्टर चौधरी ने कहा था, "सुकुमार तो नही मिल सकता, लेकिन उसके अभाव की पूर्ति अवश्य हो सकती है।"

और इतना कहकर उन्होंने मजुला के होठों पर चुम्बन लिख दिया था। और फिर कपोलो पर, पलको पर, माथे पर, गरदन पर, जाने कितने चुम्बन लिखते चले गए थे। प्यार के वे एकान्त क्षण कितने अच्छे लगे थे मजुला को ! कितने मधुर, कितने मदिर !

लेकिन यह सब वर्षों पहले की बात है। लम्बी जीवन-यात्रा के सुदूर अतीत की वात।

सुप्रिया के जन्म के बाद से ही मंजुला बीमार रहने लगी थी।

बीमार और थकी हुई।

थकी और टूट हुई।

टूटी और कही खोई।

कहाँ खोई रहती थी मंजुला ?

मजुला को खुश रहना चाहिए था, लेकिन उन्हे एक अनाम व्यथा घेरती जा रही थी। यह व्यथा उन्हें बराबर अपनी गिरफ्त मे लेती जा रही थी।

पलंग पर लेटे-लेटे मजुला की इच्छा कभी-कभी अपनी पिछली दुनिया मे लौट जाने को होती थी। उसी दुनिया में जिसे वह बहुत-बहुत पीछे छोड़ आई थी। लेकिन जिस दुनिया को वह बहुत पीछे छोड आई थी, उसमें लौटने का कोई प्रश्न ही न था। वह चाहती तो भी लौट नही सकती थी, बस केवल पीछे मुड़कर देख सकती थी।

और पीछे मुड़कर ही तो देखती थी वह। अक्सर पीछे मुड कर देखना दरअसल उनकी आदत बन गई थी। आदत, जिससे छुटकारा पाना सम्भव नही था, हालाँकि वह जानती थी कि यह आदत वेहद तकलीफ़देह है।

पीछे देखने पर मजुला एक अव्यक्त तकलीफ से छटपटा उठती। छटपटा उठती कि मिस्टर विश्वास ने कभी पलटकर उनकी ओर देखा भी नही ।

कितने सहज ढंग से उन्होंने मजुला को मुक्त कर दिया था। मंजुला उन क्षणो मे मानो मजुला विश्वास ही न हों। काश ! एक बार भी मिस्टर विश्वास ने रोका होता। रोक कर कहा होता, 'नहीं जाओगी तुम।'

तब शायद मजुला नही हो जाती।

मंजुला तब शायद मंजुला विश्वास ही रहती।

वह चौराहे पर खड़ी बहुत देर तक अनिश्चय की दुनिया में भटकती रही थी। अंदर भयंकर उथल-पुथल मची हुई थी। इसके बाद वह 'चौधरी क्लीनिक' की ओर मुड़ने वाली सड़क पर आ गई थी। लेकिन इस सड़क पर आने से पूर्व भी उन्होने एक बार मुड़कर पीछे देखा था ! देखा था कि शायद मिस्टर विश्वास खड़े हुए उनकी प्रतीक्षा कर रहे हों। पर नहीं, मिस्टर विश्वास प्रतीक्षा कर नहीं कर रहे थे। वह दो कदम आगे बढ़कर फिर रुक गई थी कि शायद अब भी आकर मिस्टर विश्वास हाथ पकड़ लें और कहे, 'चलो, वापस चलो। जहां तक आगे बढ़ आई हो, वहीं से वापस लौट जाओ।'

लेकिन मिस्टर विश्वास नही आए थे। दरअसल वह उन्हें भुलाकर बहुत तेज रफ्तार से अपनी बिजनेस के संसार में लौट गए थे। वह बहुत देर तक सोचती रही थी कि शायद मिस्टर विश्वास कहीं दूर से उन्हें आवाज दे रहे हों, लेकिन नही, उन्हें उनकी कोई आवाज नही सुनाई दी थी। सुनाई कैसे देती, वह आवाज दे ही कहां रहे थे !

उन क्षणों मे, निश्चय-अनिश्चय के उन एकान्तिक क्षणों में उन्हे मिस्टर विश्वास के इस निर्मम ठंडे व्यवहार से कितनी तकलीफ हुई थी, यह वही जानती थी। वह कहना चाहती थी, 'एक बार भी नही रोकोगे ? क्या बिना कोई विरोध किए जाने दोगे ?'

पर किससे कहती ?

कौन था सुनने वाला ?

कौन था उनके सामने ?

कोई भी तो नही।

मिस्टर विश्वास उन्हें बीच चौराहे पर छोडकर जा चुके थे, और कुछ दूरी पर, मानो नदी के उस पार, मुस्कराते हुए डॉक्टर चौधरी उनकी ओर बाँहे फैलाए खड़े थे। मिस्टर विश्वास रोकते भी तो वह कदम इतने आगे वढा चुकी थी कि लौटने का प्रश्न नही उठता था। वह लम्बी-सीधी राह को पार कर एक ऐसे मोड़ पर आ गई थी, जहाँ से लौटने का सवाल ही नही रह गया था। लेकिन, मजुला को लगता, एक बार मिस्टर विश्वास विरोध कर देते तो हर्ज ही क्या था ? वह मन ही मन मिस्टर विश्वास से पूछती, 'क्या तुम एक बार भी हाथ पकड़ कर मुझे अपनी ओर घसीट नही सकते थे ? तुमने आखिर विरोध क्यो नही किया ?'

लेकिन उन्हें कोई उत्तर नही मिलता।

क्या सचमुच मिस्टर विश्वास ने उन्हें कोई उत्तर नही दिया था ? क्या मिस्टर विश्वास ने उनके किसी प्रश्न का उत्तर नही दिया था ?

नही, मिस्टर विश्वास ने उत्तर दिया था। उन्होंने बड़े दृढ़तापूर्वक कहा था, "तुम जा सकती हो, लेकिन सुकुमार को अपने साथ नही ले जा सकती।"

उत्तर बिलकुल साफ था। कही कोई छद्म नही। कही किसी बहाने का आवरण नही।

सचमुच उन्होंने सुकुमार को नही ले जाने दिया था। उन्होंने सुकमार को न देकर मानो मंजुला को एक मौका दिया था कि मेरी नहीं तो सुकुमार की खातिर लौट आओ, जिस मोड़ पर जा पहुँची हो वही से लौट आओ, अब भी वक्त नही गुजरा है।

लेकिन मंजुला नही लौटी।

नही लौटी मजुला।

नही लौटी।

नही लौटी।

और न लौटकर, डॉक्टर चौधरी की दुनिया मे जाकर उन्होंने जीवन की पुस्तक से मिस्टर विश्वास वाले अध्याय को ही फाड दिया।

लेकिन क्या वह इस अध्याय को फाड़ कर भी भुला सकी ? कुछ दिन,

कुछ माह तक भले ही भुलाए रही, लेकिन जब सुप्रिया हुई तो इस फटे हुए अध्याय का एक-एक पृष्ठ मानो हवा में उनके सामने उड़ने-तैरने लगा। *सुप्रिया की हर मुद्रा में उन्हें सुकुमार की मुद्रा दिखाई देती।*

सुप्रिया हँसती तो उन्हें लगता सुकुमार हँस रहा है।

सुप्रिया रोती तो उन्हें लगता सुकुमार रो रहा है।

सुप्रिया जिद करती तो उन्हें लगता सुकुमार जिद कर रहा है।

सुप्रिया खेलती तो उन्हें लगता सुकुमार खेल रहा है।

सुप्रिया घर में इधर-उधर भागती-दौड़ती तो उन्हें लगता, सुकुमार दौड़-भाग रहा है।

और सुप्रिया की हर छवि में उतरती-उभरती सुकुमार की छवि ने उन्हें बीमार बना दिया। बीमार और उदास। उदास और थकी हुई। थकी और टूटी हुई।

डॉक्टर चौधरी ने उनका बहुत इलाज किया, लेकिन बीमारी मानो ठीक ही नहीं होती थी। सुप्रिया जैसे-जैसे बड़ी होने लगी, मंजुला की बीमारी भी बढ़ने लगी। और जब एक दिन सुप्रिया ने उनसे कहा, "मम्मी, तुम इतनी परेशान क्यों हो?" तो वह एकबारगी छटपटा उठी।

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। सुकुमार ने भी तो उनसे यही सवाल किया था। तब भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था। और कुछ समय बाद तो वह सुकुमार को बिल्कुल ही निरुत्तर छोड़कर चली गई थी। परेशानी से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने शायद इस तरह सुकुमार को उत्तर देने की कोशिश की थी।

लेकिन क्या वह अपनी इस कोशिश में सफल हो सकी थीं?

सुप्रिया को हर दिन, हर पल मंजुला ने अपनी आँखों के सामने बढ़ते देखा था। देखते ही देखते, खेल-खेल में ही वह कितनी बड़ी हो गई थी। लेकिन एक दिन सुप्रिया उनके सामने से दूर हो गई थी, ठीक सुकुमार की तरह। नहीं, सुप्रिया उनके सामने से दूर नहीं हुई थी, वह स्वयं सुप्रिया के सामने से दूर हो गई थी।

तीन दिन से बुखार बढता ही चला गया था। औरों की नब्ज देखकर बीमारी का पता लगाने वाले डॉक्टर चौधरी उनकी बीमारी का ठीक से पता नहीं लगा पाए। अन्य डॉक्टरों को बुलाया, 'नर्सिंग होम' ले गए, लेकिन मंजुला का बुखार नहीं उतरा। बीमियों दवाइयाँ दी, बदल-बदल कर इंजेक्शन लगाए, लेकिन कोई असर नहीं हुआ। तीसरे दिन होश में ही नहीं रही, कुछ समय बाद बडबडाने लगी। किसी ने कहा, 'हाई फीवर है।' पता नहीं कौनसा फीवर था। पता सिर्फ इतना है कि आखिरकार तकलीफ से कराहते हुए उन्होंने एकाएक पलकें मूंद ली, फिर कभी न खोलने के लिए गरदन एक तरफ लटका दी, फिर कभी सीधी न करने के लिए। जो शरीर लगातार तपता चला आ रहा था, वह एकाएक ठंडा हो गया—बर्फ की तरह। और डॉक्टर चौधरी अंत तक मंजुला की बीमारी पता नहीं लगा पाए। पता लगा भी हो तो वह इलाज नहीं कर पाए। जो मंजुला पूरी हलचल के साथ डॉक्टर चौधरी के जीवन में आई थी, वह इस तरह एकाएक बिना कोई हलचल मचाए चली गई। जो मंजुला देखते-देखते श्रीमती मंजुला विश्वास से मंजुला चौधरी हो गई थी, वह डॉक्टर चौधरी के जीवन को सूना कर सहसा चली गई, फिर कभी न लौटने के लिए।

पल-पल, दिन-दिन कर बढ़ती हुई सुप्रिया की जिन्दगी उन क्षणों में मानो ठहर गई। मानो भागती हुई नदी का जल एकाएक बर्फ बन गया हो।

सवेरे लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। डॉक्टर चौधरी के दोस्तों की भीड़, परिचितों और शुभचिन्तकों की किसी भीड़। और इस भीड़ में एकाएक झाँक उठा एक चेहरा। यह चेहरा डॉक्टर चौधरी के दोस्त का नहीं था। यह चेहरा डॉक्टर चौधरी के किसी सम्बन्धी का नहीं था।

यह चेहरा था मिस्टर विश्वास का।

मिस्टर विश्वास आगे आए, फूलों की एक माला मंजुला के ऊपर चढ़ाई कुछ देर तक मौन कहीं खोए हुए मंजुला की ओर देखते रहे और फिर सुप्रिया के गालों को धीरे से चूम कर लौट गए। भीड़ में कुछ लोग उन्हें आश्चर्य-चकित देखते रहे। कुछ ने आपस में इशारों ही इशारों में एक-दूसरे से कुछ

कहा। डॉक्टर चौधरी भी उन्हें हमप्रभ से देखते रहे। वह अप्रत्याशित आए थे और एकाएक चले गए।

काश, इन क्षणों में मंजुला पलकें खोल सकती और बोल पाती। बोल पाती तो अवश्य पूछती, 'इतने वर्षों तक कहाँ थे? पहले क्यों नहीं आए? इतना प्रेम था तो जाने ही क्यों दिया था? पुरुष की तरह हाथ पकड़कर रोक क्यों नहीं लिया था? क्या तुम्हारे जीवन में मुझसे भी ज्यादा अहमियत तुम्हारी बिजनेस की थी?'

वह पलकें खोल पाती तो मिस्टर विश्वास को देखकर आश्चर्यचकित हो उठती। बहुत घूर कर देखते हुए कहती, "यह तुम हो? इतने बूढ़े हो गए! क्या हो गया तुम्हें?"

और मिस्टर विश्वास जवाब जरूर देते। या शायद न भी देते। मंजुला पलकें खोल सकती तो वह शायद आते ही नहीं।

सुप्रिया ने उनके आने पर गौर नहीं किया था लेकिन वह उन्हें जाते हुए देखती रही। उसकी समझ में नहीं आया था कि कौन थे वह? कौन से अंकल? पहले तो कभी नहीं देखा था। उसने प्रश्नाकुल आँखों से पापा की ओर देखा, लेकिन उसे कोई उत्तर न मिला। पापा की आँखों में आँसू थे, जो रात-भर बहते रहे थे और फिर भी थमने का नाम न लेते थे। जीवन की पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय इतनी जल्दी और इस तरह समाप्त हो जाएगा, यह तो उन्होंने सोचा ही न था।

●●●



कुत्ते की मौत

●●●

प्रदीप पंत की ये कहानियाँ
जीवन के बहुआयामी यथार्थ का
सहज ढंग से किया गया विश्लेषण है।
इनमें कथ्य तथा शिल्प
दोनों ही स्तरों पर व्यापक विविधता है
और इनकी भाषा मानो
पानी की तरह बहती तथा
अपने में बहाती ले चलती है।
सम्पन्नता से जन्मी निर्ममता
और विपन्नता से जन्मी बेबसी,
जीवन की अमूल्य निधि प्रेम की
सफलता और विफलता,
ऐश्वर्य के बीच ऊबे हुए जीवन की
आत्मीयतापूर्ण सम्बन्धों को
तलाशने की कोशिश और
महानगरीय जीवन की पीड़ा आदि को
प्रदीप पंत ने ऐसी कहानियों का
रूप दिया है, जिन्हें पाठक
लम्बे समय तक याद रखेंगे।